सिंहावलोकन

तीसरा भाग

हिन्दुस्तानी समाजवादी प्रजातंत्र सेना द्वारा
भारत में सशस्त्र क्रान्ति के प्रयत्नों के सम्बन्ध में
लेखक के संस्मरण।

यशपाल

विप्लव कार्यालय, २१ शिवाजी मार्ग, लखनऊ

विप्लव प्रकाशन—२०

प्रथम प्रकाशन : फरवरी १९५५
दूसरा संस्करण : अप्रैल १९६१
तीसरा संस्करण : फरवरी १९७३

बारह रुपया

साथी प्रेस, लखनऊ में मुद्रित

मेरे यह संस्मरण अपने उन साथियों की स्मृति में

समर्पित

हैं जिनके प्रति विश्वास से और जिनके सहयोग के भरोसे अपने देश की जनता के लिये मनुष्यता के अधिकार पाने के संघर्ष में मृत्यु का भय भी रुकावट न डाल सका था।

और

अपने आज के उन साथियों को भी जो पहले किये जा चुके प्रयत्नों में असफलता के अनुभवों और भविष्य में भय की आशंका देख कर भी जनहित के लिये अपना सर्वस्व बाजी पर लगाने में झिझक नहीं दिखा रहे। अपने यह अनुभव उनके लिये उपयोगी हो सकने के विश्वास में प्रस्तुत कर रहा हूं।

यशपाल

भूमिका

सिंहावलोकन के पहले दो भागों के साथ भी भूमिका के रूप में कुछ लिख चुका हूं। तीसरे भाग में यह संस्मरण समाप्त हो रहे हैं। समाप्ति के समय भी कुछ कहना संगत जान पड़ रहा है।

पहली बात है इन संस्मरणों के क्षेत्र और रूप के सम्बन्ध में। अधिकांश पाठकों की धारणा रही है कि मैं आपबीती या अपनी कहानी लिख रहा हूं। हि०स०प्र०स के सम्बन्ध में मेरे संस्मरण, मेरी आपबीती या मेरे साथियों की आपबीती जरूर है परन्तु मेरी सम्पूर्ण आपबीती इन संस्मरणों में नहीं आ सकती, आनी भी नहीं चाहिये। महत्व हि०स०प्र०स आन्दोलन के लिये किये प्रयत्नों का है। उन प्रयत्नों का महत्व इसलिये नहीं कि वह किसी व्यक्ति विशेष के अनुभव हैं। हि०स०प्र०स से सम्बन्ध रखने वाली अनेक ऐसी घटनाओं का उल्लेख इन संस्मरणों में है जो मेरे व्यक्तिगत अनुभव तो नहीं हैं परन्तु उनका सम्बन्ध मुझ से इसलिये है कि मैं हि०स०प्र०स के संगठन के अन्तर्गत था। जब भी कभी स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयत्नों का इतिहास लिखा जाने का समय आयेगा, यह उल्लेख उपयोगी हो सकेंगे। मेरे सैकड़ों अनुभव ऐसे भी रहे हैं जिन का हि०स०प्र०स के लक्ष्य और क्षेत्र से सम्पर्क नहीं था। उनका उल्लेख आन्दोलन के इतिहास की दृष्टि से अनुपयुक्त होता इसलिये मैंने उन्हें इन संस्मरणों में नहीं लिखा।

घटनाओं के विवरण में दृष्टिकोण का महत्व बहुत अधिक रहता है; बल्कि दृष्टिकोण ही वास्तविक चीज है। अंग्रेजी साम्राज्यशाही के पोषक लेखकों द्वारा लिखे गये भारत के अतीत के इतिहास को, तटस्थ इतिहासज्ञों द्वारा लिखे उस काल के इतिहास को और अपने अतीत गौरव के लिये अन्ध-अभिमानी भारतीय इतिहास लेखकों द्वारा लिखे इतिहासों की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है। सम्भव है, अहिंसात्मक क्रान्ति की सफलता का गौरव करने वाले इतिहास लेखक हि०स०प्र०स के आन्दोलन को विपथगामी हिंसा के प्रयत्न ही समझें। हालिन्स ने भी अपनी पुस्तक No Ten Commandments में चन्द्रशेखर आजाद की शहादत का वर्णन एक उद्धत हिंसक के पुलिस से लड़ाई में जूझ जाने के रूप में ही किया है। फिर भी मैंने प्रयत्न यही किया है कि घटनाओं से अपने महत्व को दूर रख कर लिखा जाय ताकि हमारी न्यूनताओं और विवशताओं को भी पाठक समझ सकें।

इन संस्मरणों के पिछले दो भागों से हि०स०प्र०स से व्यक्तिगत रूप से सम्बन्धित

और परिचित लोगों का संतोष हुआ है, इस बात से मैं भी संतुष्ट हूं । सभी का संतोष हो सकेगा—ऐसी आशा न मैंने की थी, न मुझे है । बुद्ध ने भी सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय कहने का साहस नहीं किया था । उन्हें बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय कह कर ही संतुष्ट होना पड़ा था क्योंकि कुछ लोगों का स्वार्थ और तृप्ति बहुजन के हित की विरोधी होती है । इस सत्य को मानना ही पड़ेगा और सत्य की रक्षा के लिये उसी के अनुसार आचरण भी करना पड़ेगा । घटनाओं और व्यक्तियों को विकृत रूप और रंग देने से जिनका प्रयोजन पूरा होता है, उन्हें मैं संतुष्ट नहीं कर सकता ।

जहां तक बन पड़ा, घटनाओं का उल्लेख प्रमाण सहित ही करने का प्रयत्न किया है परन्तु अतीत की बातें लिखते समय और हो सकता है आज की भी अनेक वास्तविकताओं का वर्णन करते समय अदालती प्रमाण जुटा सकना सम्भव न हो । सच्चाई का अपना एक बल होता है । यदि मैंने वास्तविकता के साथ न्याय नहीं किया और कुछ लोगों का दावा है कि वे वास्तविकता को अधिक जानते हैं या अधिक सच्चाई से पेश कर सकते हैं तो उन्हें भी अवसर है कि पाठकों के सम्मुख सच्चाई को लाएं । तटस्थ श्रोता या पाठक ध्यान देने पर सत्य और असत्य की परख स्वयं भी कर सकता है, इसी विश्वास के आधार पर मैं संस्मरणों के इन तीनों भागों को पाठकों को सौंप रहा हूं ।

इन संस्मरणों के विलम्ब से प्रकाशित होने के कारण कुछ प्रसंग पुस्तकों में आ गये हैं । फिर भी इन संस्मरणों के प्रकाशित हो जाने का यदि कोई श्रेय है तो उसका बड़ा भाग उन लोगों का है जो मुझे इन्हें लिख डालने के लिये प्रेरित करते रहे हैं और सब से बड़ा भाग है प्रकाशवती का जिनकी दृष्टि में इन संस्मरणों के ठीक से लिखे जाने का बहुत ही अधिक महत्व रहा है ।

८ फरवरी, १९५५

यशपाल

प्रसंग-क्रम

दल की रक्षा के लिये आजाद के प्रयत्न

४ सितम्बर, १९३० के दिन, दोपहर समय भैया आजाद ने दिल्ली की बम फैक्टरी में हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र सेना की केन्द्रीय समिति को भंग कर दिया। केन्द्रीय समिति को तोड़ देने की मजबूरी का मूल कारण मुझे गोली मारने के निर्णय को बदल देना ही था। यह निर्णय बदल देने से दो समस्याएं ऐसी उठ खड़ी हुईं जिनके कारण दल को एक बार तोड़ देना अनिवार्य हो गया। एक समस्या यह थी कि पंजाब में धन्वन्तरी और सुखदेवराज मुझे दण्ड न दिया जाने का क्या कारण बताते? यदि वे कहते कि यशपाल पर लगाये गये आरोप गलत थे तो यह बात उनके प्रति साथियों के विश्वास को समाप्त कर देती क्योंकि आरोप उन्होंने ही लगाये थे। यदि यह कहा जाता कि यशपाल ने अपने अपराधों के लिये क्षमा मांगी तो एतराज हो सकता था कि क्षमा मांगने का अवसर तो सजा निश्चित करने से पहले दिया जाना चाहिये था। तिस पर मैं यह अपमान कैसे सह लेता कि मैंने क्षमा मांग ली है। क्षमा मांगने का अर्थ होता अपराध को स्वीकार करना। इस स्थिति में मुझ पर आरोप लगा कर, मुझे गोली मार देने की मांग करने वालों का और मेरा, एक साथ काम कर सकना सम्भव नहीं रहा।

दूसरी जटिल समस्या थी कि केन्द्रीय समिति द्वारा मुझे गोली मार दी जाने के निर्णय का भेद खुला कैसे? केवल केन्द्रीय समिति का ही कोई सदस्य यह भेद खोल सकता था। जब तक यह पता न लग जाता कि किस सदस्य ने ऐसा किया है, सभी पर सन्देह किया जा सकता था। एक संदिग्ध आदमी को अपने बीच रख कर तो केन्द्रीय समिति चल नहीं सकती थी।

मैं किसी भी अवस्था में भेद देने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों के नाम बताने के लिये तैयार नहीं था। मैं न केवल नाम बताने के लिये तैयार नहीं था बल्कि परिस्थिति को उलझा कर ठीक अनुमान कर सकने का भी अवसर न रहने देना चाहता था।

उस समय मेरे विचार में मेरा और दल का भला चाहने वालों के प्रति मेरा यही कर्तव्य था। फिर भी कुछ बातें तो बहुत साफ़ थीं। उदाहरणतः मेरा कानपुर से दिल्ली लौटते ही प्रकाशवती को बम फैक्टरी से हटा ले जाना। यह प्रकट था कि सूचना मुझे कानपुर में ही मिल गयी होगी। आजाद को धोखे में रखने के लिये मैंने कह दिया था कि मुझे तो इस निर्णय का पता दिल्ली में ही लग चुका था। दिल्ली में यदि कोई भेद दे सकता था तो केवल कैलाशपति पर आजाद को सन्देह वीरभद्र पर ही था। इसका कारण था, वीरभद्र ने केन्द्रीय समिति में इस निर्णय का कुछ विरोध किया था परन्तु दूसरों के ज़ोर देने पर चुप रह गया था। भैया को वीरभद्र पर सन्देह तो था पर प्रमाण न होने से उसके विरुद्ध कारवाई नहीं की जा सकती थी। अब उन्हें इस बात से तो संतोष था कि दल एक उपयोगी, विश्वस्त आदमी को मार डालने की भूल से बच गया पर इस बात का खेद भी कम नहीं था कि केन्द्रीय समिति पर भी पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता।

वीरभद्र के काम के औचित्य या अनौचित्य पर शायद मैं तटस्थ रूप से विचार न कर सकूं। यह तो मुझे मानना ही पड़ेगा कि दल का निर्णय चुपके से मुझे बता कर, दल को केन्द्रीय हानि या भयंकर भूल से बचाने की अपेक्षा उसे समिति में ही इस निर्णय का विरोध करना चाहिये था। यह प्रश्न भी हो सकता है कि दल की भूल सामने आ जाने पर भी यदि वीरभद्र भेद खोल देने के अपराध के लिये दण्ड का अधिकारी था तो केन्द्रीय समिति में आरोप लगा कर उसे भ्रम में डालने वाले क्या उससे कहीं अधिक अपराधी नहीं थे ? ऐसी अवस्था में कौन किसे और किस-किस को दण्ड देता।

मुझे गोली मारने का निर्णय बदल देने से धन्वन्तरी और सुखदेवराज तो असंतुष्ट थे ही परन्तु निर्णय जिस तरह बदला गया उससे स्वयं मुझे भी संतोष नहीं हुआ। मैं चाहता था कि मेरा जितना अपमान हुआ है उसका पूरा प्रतिशोध हो। मुझ से बिना कुछ जवाब-तलब किये यह निर्णय कर देने या उसे स्वीकार कर लेने से मुझे आजाद के प्रति भी शिकायत थी। धन्वन्तरी ने पंजाब जाकर साथियों से कहलाया कि मेरे क्षमा मांग लेने के कारण आज़ाद ने निर्णय बदल दिया है तो मैंने अपने क्षमा मांग लेने की बात का विरोध तो किया ही साथ ही यह भी कहा कि दल का निर्णय बदल देने वाला आजाद कौन होता है ? एक व्यक्ति दल का निर्णय कैसे बदल सकता है ? ऐसा निर्णय हुआ ही नहीं था, सब झूठ था। यह बात आजाद से कही गयी तो उनके गुस्से का क्या ठिकाना था। तर्क या नियम के रूप में तो मेरी बात ठीक हो सकती थी परन्तु वास्तविकता यह थी कि उस समय आजाद के प्रति सब साथियों का विश्वास

और आदर ही दल का एक मात्र आधार और अनुशासन रह गया था। हम सभी लोग सशस्त्र थे। एक दूसरे के प्रति क्रोध की भी कोई सीमा नहीं थी। तिस पर भी हम लोगों ने जो एक दूसरे पर चोट नहीं की, इसका एक कारण तो यह था कि हम लोग निजी मानापमान की अपेक्षा उद्देश्य को बड़ा समझते थे और दल की भावना के प्रति एक तरह का अनुशासन निबाहना भी कर्तव्य समझते थे। दल का एक मात्र प्रतीक उस समय आजाद का निर्णय ही था पर अकेले कोई भी निर्णय कर सकने की क्षमता और आत्म-विश्वास आजाद में न था।

आजाद उस समय स्वयं बड़ी कठिन बल्कि दयनीय स्थिति में थे। वे किसी को भी छोड़ देने के लिये तैयार नहीं थे। दूसरे सभी लोगों की खातिर मुझे छोड़ने के लिये भी तैयार नहीं थे इसलिये उन्होंने सब झगड़ों को समाप्त करने के लिये दल को ही तोड़ दिया। प्रयोजन था कि दल नये सिरे से, नये आधार पर बन सके। दल तोड़कर भिन्न-भिन्न प्रान्तों को शस्त्र बांटते समय उन्होंने एक बराबर का पूरा हिस्सा मुझे भी दिया; हालांकि उस समय मैं किसी प्रान्त का प्रतिनिधि नहीं था। इसे आजाद की मनमानी कहा जा सकता था परन्तु किसी ने इस पर आपत्ति नहीं की। आजाद ने सभी को अपने-अपने भाग में स्वतन्त्र रूप से काम करने के लिये कह दिया। साथ ही यह भी आश्वासन दिया कि किसी को उनकी सहायता की आवश्यकता होगी तो जो हो सकेगा, वे करेंगे।

मुझ से आजाद ने कहा कि सब लोगों को अपनी-अपनी जगह काम करने दो। हम दोनों अलग से रह कर कुछ करें। इन झगड़ों का निपटारा ऐसे ही हो सकता है। इससे मेरा मन तो संतुष्ट नहीं हो गया पर दूसरा उपाय भी नहीं था। कुछ दिन में लाहौर से समाचार मिला कि धन्वन्तरी और सुखदेवराज ने नहर के किनारे अब्दुलअजीज पर, जिस समय वह नहर की ओर से मोटर में आ रहा था, गोली चला दी है। इस घटना में अब्दुलअजीज को चोट भी नहीं आयी परन्तु आक्रमण करने वाले भी नहीं पकड़े जा सके। इस आक्रमण की योजना के सम्बन्ध में धन्वन्तरी ने लाहौर में मुझ से भी बात की थी। मैंने उसी समय कह दिया था कि योजना में अपने प्राण बचाने की बात पर इतना महत्व दिया जा रहा है कि इसकी सफलता में सन्देह है। आजाद से भी मैंने यही कहा था। उन दिनों अपने अपमान की चिढ़ और फिर आगे बढ़कर अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा पा लेने की भावना मन में उग्र होने के कारण मेरे बोलने के ढंग में एक कटुता आ गयी थी। मेरी बात ठीक होने पर भी उसमें शेखी और दूसरों का तिरस्कार अधिक जान पड़ता था। स्वभावत: ही ऐसी बात पर ध्यान देने की इच्छा दूसरों को न होती थी। पंजाब में जाकर मेरे कुछ करने

से दल में फूट ही बढ़ती इसलिये यह भी उचित न समझा गया।

दिल्ली बम फैक्टरी में बनाया गया बहुत सा विस्फोटक मसाला तैयार पड़ा हुआ था। फैक्टरी में सुविधा और अवसर होने पर मैंने इस विषय की पुस्तकों की सहायता से रेत में दबे पिक्रिक एसिड को भट्टी पर चढ़ाकर पिघला लिया था और उस से बहुत छोटे आकार परन्तु बहुत अधिक शक्ति के बम बना लिये थे। आजाद कानपुर छावनी से कुछ डाइना-माइट भी ले आये थे। यह सब साधन होने से आजाद ने सुझाव दिया कि वायसराय की स्पेशल पर चोट करने का हमारा एक प्रयत्न असफल हो गया तो क्या है, वही काम दूसरी बार क्यों न किया जाये ?

मैंने कहा, जिस तरीके से अर्थात् रेल लाइन के नीचे बम दबाकर और जमीन में बिजली के तार गाड़कर हम एक बार विस्फोट कर चुके हैं, वही ढंग इतनी जल्दी दुबारा काम में लाने से हमारी योजना घटना से पहले ही पकड़ ली जायगी और हमारी खिल्ली मात्र उड़ कर रह जायगी। वायसराय पर आक्रमण करना हो तो कोई और ढंग सोचना चाहिये।

आज़ाद को हंसराज वायरलेस की बात याद आ गयी। पिछले दिसम्बर में वायसराय की स्पेशल के नीचे विस्फोट करने की तैयारी के समय सहायता के लिये हम लोगों ने हंसराज को दिल्ली बुलवाया था। जब वह श्रद्धानन्द-बाजार के बगल की गली के मकान में हमें अपनी 'डेढ़ गज़ी' और 'पांच गजी' के चमत्कार दिखा रहा था, एक दिन आजाद भी मौजूद थे। चमत्कार यह था कि हंसराज जेबी बैटरी के सेल में बाल जैसे महीन दो और तार बांध देता था। एक महीन तार में बैटरी का बल्ब बंधा रहता था। दूसरा तार बल्ब से एक या डेढ़ इंच दूर ही रहता। यह दूसरा तार बल्ब पर जोड़ने से बल्ब जल सकता था। एक बार समझ जाने पर इतना तो हम भी कर लेते थे। हंसराज का चमत्कार यह था कि वह दूसरे तार को बल्ब से स्वयं न छुआ कर एक छोटी सी शीशी को बल्ब की ओर ले जाता था। यह शीशी बल्ब के समीप पहुंचने पर बल्ब जल उठता था अर्थात् बल्ब से तार का सम्बन्ध स्वयं हो जाता था। इस शीशी में हंसराज तोला भर पानी में कुछ दवाइयां पीसकर घोल लेता था।

हंसराज इस चमत्कार का वैज्ञानिक कारण यह बतलाता था कि दवाइयों के मिश्रण से भरी उसकी शीशी के चारों ओर वातावरण में डेढ़ गज तक बिजली की ऐसा लहरें उत्पन्न हो जाती हैं जो बल्ब और तार का सम्बन्ध जोड़ देती हैं। कठिनाई यह थी कि शीशी का प्रभाव हंसराज के ही हाथ से होता था, किसी दूसरे के हाथ से नहीं। हम लोगों के हाथों यह काम न हो सकने का कारण हंसराज यह बताता था

कि शीशी से उत्पन्न होने वाली लहरें खास-खास दिशा में चलती हैं। वह उस दिशा को पहचान जाता है, हम नहीं पहचान सकते। हंसराज किस शक्ति से बिजली की लहर की दिशा पहचान लेता था, यह वह बताता नहीं था। उत्तर था—बस, मुझे पता लग जाता है। वातावरण में बिजली की लहरों की दिशा भांपने के लिये विशेष यंत्र होते हैं। संसार भर के वैज्ञानिक इन्हीं यंत्रों से यह काम करते हैं। कोई भी व्यक्ति जो इन यंत्रों का प्रयोग जानता है, यह काम कर सकता है। अपने शरीर या कल्पना से कोई भी वैज्ञानिक ऐसा नहीं कर सकता। हंसराज का दावा था कि वह कर सकता था या वह स्वयं ऐसा यंत्र था।

हंसराज स्वयं उत्पन्न की हुई बिजली की लहरों के चमत्कार के अतिरिक्त हमें सम्मोहन या मैसमरेज़िम के चमत्कार भी दिखाया करता था। उसके इन चमत्कारों में अधिकांश हाथ की सफाई ही थी परन्तु हम चक्कर में जरूर आ जाते थें। दो बार अर्थात् नवम्बर १९२९ में, वायसराय की स्पेशल के नीचे विस्फोट की तैयारी के समय, और लाहौर में साथियों को जेल से छुड़ाने की योजना के समय भी, हंसराज से धोखा खा चुके थे लेकिन फिर भी आजाद को उसकी याद आई कि यदि किसी चामत्कारिक ढंग से हम वायसराय पर आक्रमण कर सकें तो इसका प्रभाव बहुत ही व्यापक होगा। आज़ाद के लिये यह कहना कि स्वयं खतरा सिर पर बिना लिये वायसराय की जान ले सकने की आशा में उन्होंने ऐसी बात सोची होगी, उन्हें गलत समझना है। अभिप्राय था कि यदि अंग्रेज़ सरकार हमारे आक्रमण के साधन का रहस्य जान नहीं पायेगी तो और भी अधिक आतंकित और चिंतित होगी। युद्ध में गुप्त सभा का बहुमत होता है।

आजाद ने यह तर्क भी दिया कि इससे पूर्व हंसराज अपने प्रति सन्देह होने के भय से और अपने आपको संकट में न डालने के लिये हमें चराता रहा होगा। अब इन्द्रपाल की करतूत से वह फंस ही गया है। उसे सन्देह के भय का कारण या सन्देह से बचे रहने की आशा नहीं रह गयी। भैया ने कहा—तुम एक बार हंसराज को खोज कर उससे फिर मिलो। यदि वह हमें अपने वायरलेस का साधन दे सके तो हम उसकी प्राण रक्षा के लिये उसे देश से बाहर भिजवाने का प्रबन्ध करने के लिये भी तैयार हैं। हंसराज का सूत्र लायलपुर में उसके घर से ही मिल सकता था। वहां मेरे लिये खतरा था। भैया ने कहा—इस काम के लिये जैसे भी हो तुम एक बार और कोशिश करो।

धन्वन्तरी, सुखदेवराज और कैलाशपति ने मुझ पर फिज़ूलखर्ची करने का आरोप भी लगाया था। उस बात से खिन्न होकर मैंने निश्चय किया था कि मैं भविष्य में अपने या प्रकाशवती के निर्वाह के लिये न तो दल के पैसे पर और न दल के प्रबन्ध

पर निर्भर करुंगा। १६२६ में वायसराय की स्पेशल के नीचे विस्फोट की आयोजना ओखला के समीप करते समय यह भी खयाल आया था कि घटना के बाद दिल्ली की ओर रेल का फाटक बन्द मिलेगा, हम मथुरा ही क्यों न चले जांय। इस विचार से मथुरा का कुछ परिचय पाने के लिये मैं कई बार श्रद्धालू बनिये के रूप में मथुरा वृन्दाबन हो आया था।

आचार्य जुगलकिशोर इस समय उत्तर प्रदेश के कांग्रेसी मंत्री-मंडल में हैं। उन दिनों वे प्रेम महाविद्यालय के प्रिंसिपल थे। आचार्य जी लाहौर में हमारे नेशनल कालेज में भी प्रिंसिपल रह चुके थे। मैं दो-तीन बार प्रेम महाविद्यालय जाकर उनसे मिल आया था और उनसे कुछ सहायता भी मिली थी। जुगलकिशोर जी की आचार्य कृपलानी से विशेष आंतरिकता थी। कृपलानी जी उन दिनों और बाद में भी बहुत दिनों तक इंडियन नेशनल कांग्रेस के प्रधान मंत्री थे। गांधी जी पर उनका विशेष प्रभाव भी था। आचार्य जी की मार्फत कांग्रेस के प्रधान मंत्री से परिचय हो सकता था। इस मार्ग से राष्ट्रीयता की भावना रखने वाले सम्पन्न क्षेत्र में हमारी पहुंच हो सकती थी। इससे आर्थिक सहायता मिलने की सम्भावना तो हो ही सकती थी साथ ही यह भी खयाल था कि कभी गांधी जी से भी दो-दो बातें हो सकें और उन्हें अपनी विचारधारा और ईमान्दारी से परिचित कराकर यह अनुरोध करें कि वे कम से कम क्रान्तिकारियों के विरुद्ध वक्तव्य देना छोड़ दें।

आचार्य जुगलकिशोर जी की मार्फत कृपलानी जी से परिचय हो गया अर्थात कृपलानी जी को यह आशंका न हुई कि मैं खुफिया पुलिस का आदमी हो सकता हूं। बनारस विश्वविद्यालय या पटना में पढ़ाते समय कृपलानी जी की क्रान्तिकारियों से कुछ सहानुभूति भी रही थी। पहले अवसर पर कृपलानी जी से केवल परिचय भर पा लिया था, अधिक बात नहीं कर पाया। उन दिनों १६२६ के अक्टूबर में आल इंडिया कांग्रेस की वर्किंग कमेटी की बैठक दिल्ली में, उस समय की केन्द्रीय असेम्बली के कांग्रेसी प्रेजीडेंट विट्ठल भाई पटेल के बंगले पर हो रही थी। मैं और भगवती भाई उन दिनों श्रद्धानन्द बाजार के बगल की गली में रहते थे। सोचा कि यदि इस समय आल इंडिया कांग्रेस की वर्किंग कमेटी के अधिवेशन में जाकर कृपलानी जी की मार्फत दूसरे प्रभावशाली लोगों से भी परिचय पा सकूं तो उपयोगी होगा। इस प्रयोजन से शुद्ध खद्दरधारी खयालीराम जी गुप्त से खूब सफेद खद्दर का कुर्ता-धोती और टोपी ले ली और अंडी की चादर ओढ़, कुर्त्ते के नीचे धोती में पिस्तौल खोंसे, कांग्रेसी नेताओं की तरह चमड़े का एक बेग हाथ में लटकाये टांगे पर सवार होकर विट्ठल भाई की कोठी पर पहुंचा। भगवती भाई ने सलाह दी थी कि यह आडम्बर करने की जरूरत नहीं। तुम सीधे-सादे

सूट पहन कर हा जाओ पर मुझे वह सलाह ठीक न जंची थी।

कांग्रेस की तिरंगी पेटियां लगाये स्वयंसेवकों ने मुझे कोठी के फाटक पर रोक लिया। उन्हें बहुत समझाया कि मुझे कृपलानी जी ने आवश्यक कार्य के लिये बिहार से बुलाया है पर उन्होंने एक नहीं सुनी। लौट आना पड़ा। परास्त होकर भी मन में अच्छा ही लगा कि हमारी कांग्रेस के स्वयंसेवकों में काफ़ी अनुशासन आ गया है। लौटने पर भगवती भाई ने कहा—"तुमसे पहले ही कहा था कि सूट पहन कर मोटर साइकल पर जाओ।" दूसरी बार हैट और सूट में मोटर साइकल पर गया। कांग्रेस स्वयंसेवकों ने न केवल पूछताछ ही नहीं की बल्कि रास्ते में बेपरवाही से खड़े अपने साथियों को परे हटने के लिये डांट कर रास्ता साफ कर दिया।

मैं दोपहर के भोजन के लिये कार्यकारिणी की बैठक स्थगित होने के समय गया था। कृपलानी जी से अनुरोध किया कि कुछ लोगों से परिचय करा दें। कोठी के बरामदे में सामने ही खड़े दिखायी दिये पंजाब के प्रसिद्ध नेता डाक्टर गोपीचंद जी भार्गव। कृपलानी जी उन से परिचय कराने लगे। मैंने उत्तर दिया—"डाक्टर साहब मुझे पहचानते हैं।" डाक्टर साहब ज़रा मुस्करा दिये और आगे बात से बचने के लिये भीतर चले गये। समीप ही सुभाष बाबू खड़े थे। कृपलानी जी ने उनसे परिचय कराया। सुभाष बाबू का चेहरा खिल उठा। दोनों हाथों से पकड़ आत्मीयता से मिले और बोले—"···किसी समय जरा अच्छी तरह से बात हो।" मेरे दो बार आने के चक्कर में सभी के भोजन अवकाश का समय बीत चुका था। अधिवेशन दुबारा आरम्भ होने की घंटी बज रही थी। अधिवेशन में उस समय सुभाष बाबू को ही बोलना था। अवसर की बात उसी संध्या उन्हें आवश्यक कार्य से कलकत्ते भी लौट जाना था। फरारी में उनसे फिर मुलाकात नहीं हो सकी। उसके बाद मुलाकात हुई १६४० में, जब उन्हें कांग्रेस के प्रधान पद से त्याग पत्र दे देना पड़ा था और वे फारवर्ड ब्लाक का संगठन करने में लगे हुए थे। उस समय सुभाष बाबू युवक कांग्रेस का उद्‌घाटन करने लाहौर जा रहे थे और मैं लाहौर के प्रेस कर्मचारियों की कान्फ्रेंस का उद्‌घाटन करने उसी गाड़ी से जा रहा था। सुभाष बाबू को मुझे पहचानने में कठिनाई नहीं हुई पर फारवर्ड ब्लाक का कार्यक्रम मुझे ठीक नहीं जंच रहा था।

१६३० सितम्बर में जब अपने ठहरने और निर्वाह की व्यवस्था के उपाय के लिये आचार्य जी के यहां बृन्दावन गया तो कृपलानी जी से भी मुलाकात हो गयी। मैंने उन्हें वायसराय की स्पेशल की घटना की बात याद दिलाकर कहा—"···देखिये, हम कुछ न कर सकते हों ऐसी बात नहीं। हमारा उद्देश्य तो भगतसिंह के अदालत में दिये बयान के रूप में सब के सामने है। हमारे किस उद्देश्य से आपको आपत्ति है?

गांधी जी ने व्यर्थ में हमारी निन्दा का प्रस्ताव लाहौर कांग्रेस में रखा। इसकी क्या जरूरत थी ? गांधी जी के प्रस्ताव को पास होने में कितनी कठिनाई हुई ? आप स्वयं समझ सकते हैं जनता की भावना क्या है ? आपको तो हमारी सहायता करनी चाहिये।" कृपलानी जी की जैसी आदत है उन्होंने कहा—"अपना लेक्चर तुम रहने दो। यह बताओ कि चाहते क्या हो ?" उत्तर दिया—"आपकी मार्फत हम केवल आर्थिक सहायता की ही आशा कर सकते हैं।"

कृपलानी जी ने हामी भरी कि यदि हम इस बात का आश्वासन दें कि भविष्य में हम कोई हिंसात्मक घटना नहीं करेंगे तो वे हमारे सब साथियों के साधारण गुजारे के लिये आर्थिक सहायता की जिम्मेवारी ले लेने के लिये तैयार हैं।

मुझे यह शर्त कुछ अजीब सी लगी। हम जो काम कर सकने के लिये सहायता चाहते थे कृपलानी जी वही काम न करने की शर्त लगा रहे थे। मैंने उत्तर दिया—"छिपे रह कर केवल पेट भर लेना तो बड़ी भारी समस्या नहीं है। हम लोग कहीं भी छोटी सी मनियारी या पान की दुकान करके या किसी कारखाने में मज़दूरी या मुंशी की नौकरी करके पेट पाल ले सकते हैं। सहायता की ज़रूरत तो अपना आन्दोलन चलाने के लिये ही है।"

इस पर कृपलानी जी बिगड़ उठे—"तुम लोगों के सिर पर तो शहीद बनने का जुनून चढ़ा है। हमारा तुम्हारा कोई सहयोग नहीं हो सकता।"

तर्क करने से कोई लाभ नहीं था पर इतना मैंने भी कह ही दिया—"आचार्य जी, यह कोई बहुत बुरा जुनून तो नहीं है।"

बाद में जुगलकिशोर जी ने बताया कि कृपलानी जी मेरे लिये संदेश दे गये हैं कि मैं कभी मेरठ जाऊं तो वहां गांधी आश्रम में उनसे मिल सकता हूं। उसके कई दिन बाद मेरठ जाने का अवसर हुआ तो गांधी आश्रम का भी चक्कर लगा लिया। कृपलानी जी उस समय वहां नहीं थे। आजकल उत्तर प्रदेश सरकार के यातायात विभाग के मंत्री विचित्र नारायण जी शर्मा मिले। उन्होंने परिचय पाकर बताया कि कृपलानी जी मेरे लिये एक लिफाफा छोड़ गये हैं। लिफ़ाफा ले जाकर एकान्त में खोला। उसमें सौ-सौ रुपये के दो या तीन नोट थे और साथ ही एक पुर्जा था—"For personal needs" (निजी आवश्यकता के लिये) अर्थात् कृपलानी जी यह नहीं चाहते थे कि उनका दिया रुपया हमारे 'हिंसात्मक' आन्दोलन में लगे। यह कैसे हो सकता था ! हम स्वयं ही उस आन्दोलन के लिये जिन्दा थे।

इस बार वृन्दाबन जाने का प्रयोजन यह था कि स्वयं हंसराज की खोज में जाने से पहले प्रकाशवती को कुछ दिन के लिये किसी सुरक्षित स्थान में छोड़ जाऊं।

प्रकाशवती को घर से आये केवल पांच ही मास हुए थे। अभी तक वे पार्टी के स्थानों ही में रही थीं या एकाध बार हम से सहानुभूति रखने वालों के यहां। अभी उन्हें फरारी का अनुभव कम ही था। बाद में तो वे फरार रहते नाम बदल कर अध्यापिका का काम कर अपना निर्वाह भी करने लग गयीं। वृन्दाबन में प्रेम महाविद्यालय कांग्रेसी असहयोगियों का अड्डा था। वैसे भी वह अंग्रेज़ों के पुराने विद्रोही राजा महेन्द्रप्रताप की जागीर थी और शायद शिक्षा के काम के लिये एक ट्रस्ट के हवाले कर दी जाने के कारण ही जब्त नहीं हुई थी परन्तु खुफ़िया पुलिस की नजर इस संस्था पर अवश्य रहती थी। वहां प्रकाशवती का अधिक दिन ठहरना उचित न था। मौके की बात, आचार्य जी के यहां कालिज का पुराना साथी और दोस्त मनोहरलाल खन्ना मिल गया। मनोहर भी हमारे दल के लिये जयचन्द्र जी द्वारा चुने हुये पुराने लोगों में से था। मनोहर को जयचन्द्र जी ने विदेश आने-जाने या विदेशों से शस्त्र मंगा सकने का मार्ग बनाने के लिये कुछ दिन बम्बई और लंका में रहने के लिये भेजा था पर कोई संतोष-जनक काम करने को नहीं बताया। समय व्यर्थ जाता देख वह अलग हो गया था। जयचन्द्र जी द्वारा दीक्षित परन्तु साथ न रह सकने वाले और भी अनेक साथी हमें बाद में कुछ न कुछ सहायता देते रहे।

मनोहर को फार्मिंग का शौक था। उन दिनों वह बुलन्दशहर जिले में प्रेम महाविद्यालय के गांवों और फार्म का मैनेजर बन गया था। उसका दफ्तर या कचहरी बराल गांव में थी। उसने अपने यहां रानी के रहने की सुविधा कर देने का आश्वासन दिया। प्रकाशवती आचार्य जी के यहां आकर रही तो उन्होंने उसे 'रानी' नाम दे दिया। इसके बाद अपने परिचितों में उसका यही नाम चल पड़ा और अभी तक चला आता है। मनोहर आरम्भ से ही सुरुचि और सलीके का आदमी था। अब गांवों और फार्म का मैनेजर होने और बड़ा आदमी समझा जाने के कारण रहता भी साहबी ढंग से था। हैट, बिर्चिस और घुटनों तक ऊंचे बूट।

बहुत दिनों की तनाव की जिन्दगी के बाद मनोहर के यहां कुछ समय आराम और बेफिक्री से रहने को मिला। मनोहर के पास पिस्तौल और शिकारी बन्दूक का लाइसेंस भी था। उसकी स्थिति भी ऐसी थी कि वहां पिस्तौल को हरदम छिपाये रखने की चौकसी की भी जरूरत न थी। निश्चित, जितना सोया जा सकता सोने, खाने के लिये भी कमी नहीं थी। मैं भी वायसराय की स्पेशल के नीचे विस्फोट के समय पहनी हुई बिर्चिस और बूट ले आया था। बड़े ठाट से बिर्चिस, बूट पहन कर बंदूक ले झाड़ियों में शिकार के लिये निकल जाते। शिकार से मतलब कोई चीते, सुअर का नहीं, यही चिड़ियों का निरापद शिकार। साथ में शिकारी भंगी भी रहता।

निशाना मेरा खास अच्छा नहीं था । भैया आजाद के कहते रहने पर भी कभी अधिक अभ्यास नहीं किया पर इतना बुरा भी नहीं था कि सौ दो सौ फुट से गिद्ध के आकार की चिड़िया को भी न मार सकूं । गांव के समीप तालाबों पर गिद्ध जितनी बड़ी सफेद रंग की खूब बड़ी-बड़ी चिड़ियां काफी संख्या में थीं । उनका रूप और आकार कुछ बगलों जैसा ही था पर बीच में कुछ पंख गुलाबी रंग के भी होने के कारण सुन्दर लगती थीं । स्वभाव से बहुत सुस्त । बन्दूक को देखकर भी उनका मन उड़ जाने को न चाहता । झुण्ड में से एक को गिरा भी लीजिये तो शेष उड़ कर दूसरे पेड़ पर बैठ जातीं ।

अपना निशाना देखने की इच्छा से मैंने एक चिड़िया को गिरा दिया । शिकारी ने जमीन्दारी ढंग से मेरे निशाने की प्रशंसा के पुल बांध दिये । फिर एक और चिड़िया पर बन्दूक चलायी । वह भी गिर गयी । झुण्ड की शेष चिड़ियां तो दूसरे वृक्ष पर जा बैठीं परन्तु इस चिड़िया के जोड़े ने बहुत विलाप शुरू कर दिया । बाल्मीकि मुनि का श्लोक याद आ गया—"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती समा···" और सचमुच बहुत पश्चत्ताप भी हुआ । विलाप करती चिड़िया का दुख दूर करने के लिये उस पर निशाना किया तो वह जाने लगी । दो कारतूस व्यर्थ गये । आखिर अपने सम्मान की रक्षा के लिये और चिड़िया का भी दुख दूर करने के लिये उसे तो मार ही दिया परन्तु साथ ही शिकार का शौक भी समाप्त हो गया ।

मनोहर का आस-पास के गांवों के कुछ जमीन्दारों से परिचय था । उनके यहां भी वह हमें ले जाता और हमारा परिचय अपने रिश्तेदारों के रूप में करा देता । मनोहर से पता चला कि बराल से कुछ ही दूर एक गांव में मेरे कालिज के सहपाठी चौधरी रामधनसिंह का मकान था । रामधनसिंह का पता लग जाना तो बहुत ही उपयोगी जान पड़ा । रामधनसिंह भी जयचन्द्र जी द्वारा चुने गये लोगों में से था परन्तु जयचन्द्र जी की ही शिथिलता के कारण निरुत्साहित होकर बैठ गया था । जयचन्द्र जी ने रामधनसिंह को पेशावर के समीप मर्दान में जाकर रहने और सरहद्द पार के लोगों से सम्पर्क जोड़ने का काम सौंपा था । इससे दो काम हो सकते थे । एक तो उधर से रिवाल्वर-पिस्तौल खरीदे जा सकते थे दूसरे उस रास्ते विदेश, खासकर रूस जाने की भी सम्भावना हो सकती थी ।

चौधरी रामधनसिंह बहुत खुलकर आत्मीयता से मिला । बी० ए० पास कर लेने के बाद जमीन जोतने का काम उसे रुचिकर नहीं लगा । मुंशीगीरी भी नहीं करना चाहता था इसलिये कानपुर में चमड़े का काम सिखाने वाले सरकारी स्कूल में जूता बनाने की शिक्षा ले रहा था । रामधनसिंह की यह छोटी सी बात उसकी क्रान्तिकारी मनोवृत्ति की पर्याप्त परिचायक थी । हरियाना, गुड़गांव और बुलन्दशहर के जाट

अपने आप को क्षत्री मानते हैं। गुण-कर्म भी उनके राजपूतों से भिन्न नहीं। ऐसी अवस्था में रामधनसिंह का जूता बनाने का काम सीखने लगना, उसकी यथार्थवादी और क्रान्तिकारी प्रवृत्ति का प्रमाण नहीं तो क्या था ?

एक दिन अच्छा परिहास हो गया। रामधनसिंह के पिता रिसाले में सूबेदार हो जाने के बाद पेंशन पाकर घर पर ही रह रहे थे। मैं रामधनसिंह के यहां गया तो साहबी ढंग छोड़ सीधे-सादे कपड़े पहने था। रामधन के पिता सुबह अपनी पेंशन लेने तहसील अर्थात् बुलन्दशहर गये थे। लौटकर बता रहे थे कि तहसील में उन्होंने एक इश्तहार देखा कि जो आदमी लाट साहब की गाड़ी के नीचे बम चलाने वाले को पकड़ा देगा उसे सरकार बीस हज़ार रुपया इनाम देगी और बताने लगे—इनाम के इश्तहार लगाने से कहीं ऐसे आदमी पकड़े जायेंगे ? जब पहरे में बम चलाते समय सालों को दिखाई नहीं दिया तो अब क्या दिखाई देगा ! ऐसे लोग बड़े करतबी होते हैं। अपने पास गिदड़सिंगी (गीदड़ का सींग) रखते हैं। आदमी के पास गिदड़सिंगी हो तो सामने बैठा भी देख नहीं सकता। मैं उनके सामने ही तो बैठा था। रामधनसिंह ने बड़ी गम्भीरता से पूछा—"चच्चा, गिदड़सिंगी मिल कैसे सकती है ?" सूबेदार साहब ने बताया—"बड़ी मुश्किल होती है। सुना है, कहीं लाखों गीदड़ों में किसी एक के सींग होता है। यह तो जादूगर लोगों के काम हैं। एक तरह की जोगमाया समझो।"

रामधनसिंह के पिता सूबेदार तो थे ही। पहले महायुद्ध में फ्रांस, मसोपोटामिया के मैदानों में अंग्रेज़ सरकार के लिये लड़ भी आये थे यानि विदेश भ्रमण भी कर आये थे। अंग्रेज़ सरकार को अपने सैनिकों का बौद्धिक स्तर इस से ऊंचा उठाना उचित नहीं जान पड़ता था।

वायरलेस की दुबारा खोज

प्रकाशवती मनोहर के यहां रहीं और मैं हंसराज की खोज में चला। हंसराज वायरलेस से सम्बन्ध रखने वाले हमारे सभी साथी, सुखदेवराज को छोड़कर, इन्द्रपाल के साथ दूसरे लाहौर षड़यंत्र केस में गिरफ्तार हो गये थे। इसमें भी सन्देह ही था कि कोई दूसरा व्यक्ति हंसराज के घर जाता तो उसके माता-पिता हंसराज का पता बता देते क्योंकि हंसराज पर पुलिस के सन्देह की बात वे जान चुके थे। मैं स्वयं लायलपुर गया और हंसराज की मां से मिला। उन्हें विश्वास दिलाया कि हंसराज की रक्षा के लिये उससे मिलना चाहता हूं। उन्होंने बताया कि वह कराची में अपने भाई ब्रह्मदेव के यहां ठहरा हुआ है और ब्रह्मदेव का पता दे दिया। ब्रह्मदेव वालकट ब्रदर्स के दफ्तर में क्लर्क था।

मैं अक्तूबर के पहले सप्ताह में कराची पहुंचा । ब्रह्मदेव शायद गाड़ीखाता मुहल्ले में तिमंजिले पर एक कोठरी में सपत्नीक रहता था । हंसराज वहां ही था । हंसराज से बात की । उसने कहा अब क्या है, अब तो करना ही होगा । मैंने इन्द्रपाल की गलती के लिये अफसोस भी किया अस्तु हंसराज तैयार हो गया । उसने कठिनाई बतायी कि कराची में उसके पास सामान नहीं है । सामान जुटाने में कम से कम एक मास लगेगा । उसने नवम्बर के महीने में कोई तारीख बता दी कि उस दिन या उसके बाद किसी भी दिन मैं आकर पांच सौ गज़ तक बिजली की लहरें पैदा करने वाला एक बल्ब ले जा सकूंगा । उस बल्ब के साथ एक शीशी रहेगी । जब तक शीशी रहेगी बल्ब से लहरें न निकलेंगी शीशी को बल्ब से दूर करते ही बल्ब सक्रिय हो जायगा । उसने जिस ढंग से बातचीत की उसके इरादे और नीयत में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं जान पड़ी ।

कराची से गाड़ी पांच-छ बजे शाम को चलती थी । उसी गाड़ी से लौटा । हैदराबाद के स्टेशन पर रात आठ-साढ़े आठ का समय होगा । देखा कि एक आदमी पगड़ी, धारीदार कोट और सिलवार पहने मेरी तरफ इशारा करके एक दूसरे आदमी से बात कर रहा है । पिछले स्टेशन पर एक टिकट बाबू ने मेरे डिब्बे में आ कर सरसरी तौर पर टिकट चेक किये थे । मेरा भी टिकट देखा था और प्लेटफार्म पर इस आदमी से कुछ बात की थी । उस समय सन्देह नहीं हुआ था । अब मेरा माथा ठनका । यही अनुमान किया कि पुलिस को मालूम होगा हंसराज अपने भाई ब्रह्मदेव के मकान पर है । वहां खुफिया पुलिस वाले पहरा रखे होंगे । मैं भांप नहीं सका । वहीं से मेरा पीछा किया गया है । मेरे पास सामान अधिक न था, केवल छोटा सा बिस्तर और केनवस का सूटकेस । सूटकेस में दो-तीन पुस्तकें और जरूरत के समय बदलने के लिये कपड़े थे । दूसरे आदमी को मुझे दिखाकर धारीदार कोट वाला व्यक्ति प्लेटफार्म के दायीं ओर चला गया । यह दूसरा व्यक्ति बालदार ऊंची टोपी पहने था । उसने एक सिगरेट जलाकर कनखियों से मुझे देखते हुये सामने एक चक्कर लगाया और गार्ड के डिब्बे की ओर एक गाड़ी के सामने खड़ा रहा । मेरा भी ध्यान उसकी ओर था । गाड़ी चलने से पहले मैं दरवाजे में खड़ा झांक रहा था । सोचा, जो होगा देखा जायगा, इस गाड़ी से उतर जाऊं । गाड़ी के चाल पकड़ने से पहले ही मैं दूसरी ओर उतर गया और गाड़ी से उल्टी दिशा में चलने लगा ।

गाड़ी निकल गयी तो प्लेटफार्म के अन्त से कुछ इधर ही वही धारीदार कोट पहने आदमी दिखायी दिया और तेज रोशनी में उसने भी मुझे देख लिया । मुझे आशंका हुई कि यह चिल्लाना ही चाहता है—पकड़ो ! पकड़ो ! इसलिये अपने लम्बे

से कोट की जेब में पड़ी पिस्तौल पर हाथ रखा। उस व्यक्ति ने यही दिखाया कि उसने मुझे देखा नहीं। प्लेटफार्म समाप्त हो जाने के बाद रोशनी कम थी। मैं जगह से बिलकुल अपरिचित था। यों ही प्राण बचाने की आशा में चल पड़ा। पीछे भी देखता जा रहा था। बीस-पच्चीस कदम जाकर देखा कि वह आदमी तेजी से मेरे पीछे चला आ रहा है। बीच में खाली लाइन थी पर दोनों तरफ गाड़ियां खड़ी थीं। मैं तेजी से चलने लगा और उस आदमी के भी तेजी से चलने की आहट आने लगी। सोचा, इस अनजानी जगह में मैं कहां तक चला जाऊंगा ? मैं सहसा दो डिब्बों के बीच की जगह में जा खड़ा हुआ। मेरा पीछा करता आदमी और भी तेजी में उस जगह से एक कदम आगे निकल गया। दो गाड़ियों के बीच में होते ही मैंने पिस्तौल कमर से निकाल लिया था परन्तु घोड़ा नहीं खींचा था। पीछे से लपक कर मैंने पिस्तौल को जोर से उसके कान और गाल पर मारा। उसकी पगड़ी गिर पड़ी और वह दोनों हाथों से सिर को थाम कर बैठ गया।

कभी तर्क के लिये अवसर तो नहीं होता परन्तु आदमी क्षण भर में सूझ से ऐसा काम कर जाता है जिसमें तर्क की लम्बी श्रृंखला बीज रूप में समायी रहती है, जिसे इंस्टिक्ट कहते हैं। उस समय यदि मैं उसे आगे निकल जाने देकर स्टेशन पर लौट आता तो फिर स्टेशन पर उससे सामना होता। उस समय हैदराबाद शहर का मुझे कुछ भी परिचय नहीं था। इतना ही जानता था कि स्टेशन से सब मकानों के ऊपर तिकोने से लम्बे-लम्बे रोशनदान बने दिखायी देते हैं। स्टेशन पर सामना होने पर वह क्या न करता। पहली बार ही उसने मदद के लिये दूसरों को क्यों नहीं पुकारा यही समझ नहीं सकता। अस्तु, उस आदमी के सिर थाम कर बैठते ही मैंने पिस्तौल की नली उसकी नाक पर दबाकर बहुत कड़े परन्तु दबे हुये स्वर में गाली देकर धमकाया—"अभी गोली मार दूंगा। क्यों पीछे पड़ा है।" वह कुछ बोल न सका। केवल दोनों हाथ जोड़ दिये। गोली नहीं चलायी। चलाता तो उसकी गूंज से मैं स्वयं मुसीबत में पड़ जाता। उसे फिर धमकाया—"खबरदार पीछे आया !"

इसी समय गाड़ी के दूसरी ओर से किसी व्यक्ति के पत्थरों पर चलने की आहट सुनायी दी। झुक कर गाड़ी के नीचे देखा कि एक आदमी स्टेशन की ओर से रेल के हाते की, टीन की तख्तियों की बनी बाड़ के साथ-साथ चला जा रहा है। उस आदमी ने दो-तीन तख्तियों को टटोल कर देखा। एक तख्ती ढीली थी। उसे खिसका कर वह बाहर निकल गया। मैं भी दोनों गाड़ियों के बीच की राह से दूसरी तरफ निकल कर उसी जगह से बाहर चला गया। यहां सड़क पर अंधेरा था।

परन्तु जाता कहां ? हैदराबाद में कुछ भी परिचय न था। रात का समय। अब

पास मुसाफिरी का कोई सामान भी न रहा था। मेरे टिकट का स्थान और शायद नम्बर भी नोट हो चुका था। टिकट लाहौर तक का लिया था। टिकट फेंक दिया। अपना कोट उतार कर वहीं अंधेरे में ही छोड़ दिया और धोती को दोतहा करके तहमत की तरह बांध लिया। यह भी खयाल आया कि ऐसी पोशाक में गुण्डा समझ कर ही न धर लिया जाऊं। सबसे बड़ी बात यह थी कि मेरा पीछा करने वाला व्यक्ति यदि फिर मुझे ढूंढ़ने स्टेशन पर आया तो मैं किसी भी तरह नहीं बच सकूंगा पर ऐसा विश्वास था कि वह आयेगा नहीं।

एक कुली से सम्मासट्टा जाने वाली गाड़ी का समय पूछा। अभी एक घंटे की देर थी। मैं तीसरे दरजे के मुसाफिरखाने की भीड़ में जा बैठा। गाड़ी के आने की घंटी बजी तो सम्मासट्टा का टिकट ले गाड़ी में जाकर ऊपर की सीट पर धोती ओढ़ कर लेट गया। गाड़ी चल दी। नींद तो भला जल्दी क्या आ जाती पर बच जाने से काफी सान्त्वना अनुभव हुई।

पहली गाड़ी से उतर कर प्राय: सवा घंटे बाद दुबारा गाड़ी में चढ़ जाने तक की बात सोचने लगा। वायसराय की स्पेशल के नीचे विस्फोट करने के बाद मैं पुलिस की प्रतीक्षा में खड़ा रहा था। लौटते समय पुलिस की गारद से सामना हो जाने पर दिल्ली स्टेशन पर भी झिझका नहीं था। इस सवा घंटे में मुझे जितना पसीना आया और जैसे दिल धड़का वैसा शायद बहुत सख्त मलेरिया का ज्वर होने पर भी न हुआ होगा। इस सवा घंटे की लड़ाई में मैं युद्ध करने या आक्रमण करने नहीं गया था बल्कि प्राण बचाने के लिये भाग रहा था। इस तरह पकड़े जाते समय लड़ने में वीरता का अवसर भी न जान पड़ रहा था। किसी उद्देश्य या संगठन के अंग के रूप में आदमी की जो स्थिति बन जाती है वह व्यक्तिगत रूप में नहीं रहती। वही प्रेरणा और साहस का भी स्रोत होती है।

सम्मासट्टा में कोई आशंका दिखायी नहीं दी। यहां उतर कर लाहौर का नहीं भटिंडा का टिकट ले लिया। इस रास्ते पैसेन्जर गाड़ी रेगिस्तान के बीच से धीमे-धीमे रेंगती हुई जाती है और बहुत काफी समय ले लेती है।

हैदराबाद में अपना पीछा करने वाले व्यक्ति की शक्ल बार-बार याद आ जाती थी। यह भी खयाल आता कि उसने स्टेशन पर मुझे फिर क्यों नहीं ढूंढ़ा। पुलिस के आदमी से इस प्रकार का प्रसंग पड़ने का पहला ही अवसर था। बाद में भी ऐसा अवसर आया बल्कि इससे भी विकट। तब यह सब जान चुका था कि पिट कर जाने के बाद पुलिस के लोग मार खा आने की बात कह कर, अफसरों के सामने अपनी अयोग्यता और कायरता प्रकट नहीं किया करते। शांति से सोचने पर अनुमान हुआ

कि सम्भव है उस आदमी ने मेरा पीछा ब्रह्मदेव के मकान से न किया हो। १६२८ में जब हम लोग नौजवान भारत सभा के काम में बहुत खुलकर भाग ले रहे थे या १६२६ के जनवरी में जब मैंने और भगवती भाई ने २६ जनवरी की झण्डे की सलामी फौजी ढंग से देने की आयोजना की थी तभी से पुलिस के इस आदमी ने मुझे पहचान रखा हो। आशंका थी कि यदि हंसराज गिरफ्तार हो जाता है तो मेरा कराची जाना व्यर्थ हो जायगा।

भठिंडे की राह देहली पहुंचा तो अवस्था बुरी थी। कपड़े बहुत मैले और कई दिन की बढ़ी हुई हजामत। जब रोहतक में मैं किसना बनकर रहा था तब भी स्वरूप कुछ ऐसा ही था परन्तु तब जानबूझ कर बनाया था और अब मजबूरी थी। झंडे वाले मुहल्ले में बम फैक्टरी का बड़ा मकान छोड़ दिया जा चुका था। देहली के इंचार्ज कैलाशपति से या भैया से मिलने का कोई ठिकाना मालूम नहीं था। प्रोफेसर नन्द-किशोर निगम के यहां जाकर ही कुछ पता लग सकता था। देहली तक पहुंचते-पहुंचते दुबारा टिकट खरीदने के कारण मेरी जेब में शायद छ पैसे ही बच रहे थे। स्टेशन से यमुना किनारे हिन्दू होस्टल में प्रोफेसर निगम के मकान तक जाने के लिये तांगा भी न कर सकता था। क्वार की तीखी धूप थी। पैदल ही हिन्दू कालिज के होस्टल तक गया। अवसरवश कैलाशपति साइकल पर बोर्डिंग से बाहर निकलता दिखायी दे गया। बम फैक्टरी के प्रसंग में कह चुका हूं कि उन दिनों वह १६२८-२६ का कैलाशपति न था कि देहली के जाड़े में बिना स्वेटर के घूमता रहे और स्वेटर दे दिया जाने पर स्वयं न पहन कर दूसरे साथी को दे दे। खूब बुर्राक कलफ किये साफ कपड़े पहने था और पोमेड-क्रीम की सुगन्ध आ रही थी। आंखों पर धूप का चश्मा। वही रूप देख कर मैं आजाद से कहा करता था कि ठंडी को जवानी चढ़ रही है।

अपनी उस अवस्था में मुझे उसका सिंगार और भी खला। मैं उससे बहुत तिरस्कार से बोला। वह गम्भीर बना रहा। संक्षिप्त सा उत्तर उसने दिया—"इस समय यहां आजाद या निगम कोई नहीं हैं। आजाद कानपुर चले गये हैं।" मैंने अपने साथ हुई घटना संक्षेप में बता कर बहुत अधिकार से उससे रुपये मांगे।

"इस समय तो नहीं हैं।" उसने शायद मेरे तिरस्कार के प्रतिकार में उत्तर दे दिया।

पैदल देहली लौटना पड़ा। कहां जाता? खयालीराम गुप्त के यहां जाने पर उनकी मां बहुत शोर मचाती थीं। अजमेरी दरवाजे महाशय कृष्ण जी के यहां जाना उचित नहीं था। बहावलपुर रोड के प्रसंग में यह बता ही चुका हूं कि महाशय कृष्ण जी के मकान की तलाशी हो चुकी थी।

भूखा इधर-उधर घूम रहा था। भूख से अधिक क्लेश मन को कैलाशपति के व्यवहार से हुआ। छः पैसे पास हों तो आदमी चना-चबेना चबाकर समय काट सकता है पर भूख से अधिक चिन्ता थी कि कानपुर कैसे पहुंचूंगा। भूख भूली हुई थी। उन दिनों सिगरेट-सिगार पीने की आदत बहुत कम थी परन्तु जाने क्या सूझा कि मैंने जामा मसजिद के पास की एक दुकान से छः पैसे में एक सिगार खरीद लिया और संध्या के अंधेरे में परेड के मैदान में बैठ कर पीने लगा। कैलाशपति पर गुस्सा इस अधिकार से था कि आपस में चाहे जितना मतभेद या लड़ाई हो हम लोग एक दूसरे की कठिनाई और खतरे की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। खैर सिगार पीने से चक्कर-सा आ गया। जोर की उबकाई आने लगी। मसजिद के समीप एक नल से खाली पेट में बहुत-सा पानी पी लिया तो तबीयत और खराब हो गयी। फिर परेड में जा लेटा। तब खयाल आया मैं बहुत मूर्खता कर रहा हूं। मेरी कमर में पिस्तौल है यदि मुझे ऐसे लेटे देख कर ही पुलिस वाले अवारागर्दी में चालान कर दें तो ?

पचास वर्ष के लम्बे जीवन में मैंने बहुत कुछ देखा और अनुभव किया है परन्तु पैसा न होने के कारण भूखे रहने का दिन केवल यहां एक ही बार आया। सोचा—महाशय कृष्ण जी के यहां जाना ही पड़ेगा। उठा और अजमेरी गेट की ओर चल दिया। रास्ता चावड़ी बाजार और फतेहपुरी के बीच से होकर जाता था। मैं रोशन सिनेमा के पास से गुज़र रहा था, रात के नौ या साढ़े नौ बजे होंगे। उन दिनों इस भाग में सड़क के दोनों ओर बहुत ही सस्ते किस्म की वेश्याओं के कोठे रहते थे। बाजार प्रायः सूना हो रहा था। मुझे धीमे-धीमे जाते देखकर वे शायद गाहक समझ दोनों ओर से पुकारने लगीं—"अरे इधर आ, इधर आजा !" सोचा—इन्हें भी शायद मेरी ही तरह भूख लगी होगी। यदि चला जाऊं तो क्या बातचीत होगी ? यह अनुभव मेरे मन में इतना गहरा बैठ गया कि कभी भूल नहीं सकता। बाद में १९३८ में मैंने इस अनुभव की याद से एक छोटी सी कहानी 'दुखी-दुखी' लिखी थी जो प्रायः ही पाठकों को बहुत पसंद आयी है।

महाशय कृष्ण जी के यहां जाना ही पड़ा। वे घर पर ही थे। मुझे अचानक और ऐसी अवस्था में देखकर देखते ही रह गये। उनसे क्षमा सी मांगी "...मुझे यहां नहीं आना चाहिये था परन्तु बहुत ही मज़बूरी से आया हूं।" उनसे कुछ साफ कपड़ों और रुपयों के लिये कहा। कृष्ण जी की आदत बहुत कुछ पूछने और जिरह करने की थी पर उस दिन उन्होंने बिना कुछ पूछे-ताछे कपड़े और रुपये दे दिये। वहीं हजामत बनाकर, नहा धोकर कपड़े बदल लिये। उनके यहां जाने पर भाभी खाना तो जरूर ही खिलाती थीं।

मैं आजाद को ढूंढ़ने कानपुर चल दिया। भैया ने कानपुर में एक खास पता बताया था कि आवश्यकता होने पर वहां ठहर भी सकता हूं। लगभग संध्या समय कानपुर पहुंचा था। चुन्नीगंज गया। वहां गुलजारीलाल का मकान ढूंढ़ा। गुलजारीलाल इकहरे बदन के लम्बे से आदमी थे। रंग गेहुआं और लम्बी-लम्बी मूंछें। यह याद नहीं कि मैंने किस नाम से आजाद का पता पूछा पर वे समझ गये। बहुत भावुकता और गहराई से मेरी ओर पल भर देखा और बोले—"हां ठीक है, बैठिये।"

एक कोठरी और आंगन का मकान था। वे अकेले ही रहते थे। गुलजारीलाल ने मुझसे बात नहीं की। खाट पर कपड़ा बिछा कर बैठा दिया और स्वयं तुरन्त आंगन में बने चौके में बैठकर एक कटहल काटने लगे। मैंने भैया तक संदेश पहुंचाने की बात याद दिलाई। गुलजारीलाल बोले—"पहले आप खाना खा लीजिये।" जल्दी खाने की आवश्यकता न होने और तकल्लुफ़ न करने की बात कही पर वे नहीं माने। कटहल काट कर उन्होंने चूल्हे पर चढ़ा दिया। आटा गूँधने लगे। उन्हें आटा पूरियों के लिये कड़ा गूंधते देखा तो फिर कष्ट न करने का अनुरोध किया परन्तु वे नहीं माने। खूब याद है, कढ़ाई नहीं थी, उन्होंने गहरे तवे पर खूब घी छोड़कर पूरियां तलीं और फिर मुझे बहुत श्रद्धा से आसन पर बैठाकर खाना खिलाया। उससे पहले यू० पी० में रहने का अवसर नहीं हुआ था। कटहल की तरकारी उस दिन पहली बार ही खायी थी या उससे पहले की बात याद नहीं। मैं जब भी कटहल की तरकारी देखता हूं, मुझे गुलजारीलाल की रसोई याद आ जाती है। खाने के बाद मेरे जिद्द करने पर भी उन्होंने मुझे थाली नहीं धोने दी।

खाना खिला कर वे भैया को खबर देने गये। भैया साढ़े नौ-दस तक आ गये। हम दोनों बात करने लगे तो गुलजारीलाल स्वयं ही परे जाकर बैठ गये। गुलजारीलाल कानपुर म्युनिसिपैलिटी की छिड़काव करने वाली मोटर के ड्राइवर थे। इस के बाद एक ही बार और उन से मुलाकात हुई। उन की पहली मुलाकात की स्मृति मस्तिष्क पर इतनी गहरी है कि पच्चीस वर्ष बाद भी उन का चेहरा याद है। भैया के ऐसे कई निजी विश्वस्त लोग थे। कराची में हंसराज के वायदे का और फिर रास्ते की दुर्घटना का पूरा हाल भैया को बताया। यदि हंसराज गिरफ्तार हो गया होता तो अब तक तो पत्रों में समाचार आ ही जाना चाहिये था फिर भी हम लोग उस का समाचार जानने के लिये कई दिन तक नित्य सुबह अखबार की प्रतीक्षा करते रहते।

अक्टूबर के अन्त में २९-३० तारीख होगी, दिल्ली में पिछली रात संध्या समय कैलाशपति के गिरफ्तार हो जाने का समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ। उन दिनों कैलाशपति दिल्ली में कोई विशेष काम नहीं कर रहा था। हां, भैया को उस ने अजमेर

में एक मनी एक्शन (रुपये के लिये डकैती) की सम्भावना बतायी थी, जिस के लिये वह एक दो बार वहां गया भी था और मदनगोपाल को वहां देख-भाल के लिये छोड़ आया था। दिल्ली में उस के विशेष आर्थिक कठिनाई में होने का भी कारण नहीं था। कैलाशपति की गिरफ्तारी चूड़ी वालों के बाजार में अपने मकान की गली में ही हुई थी। गिरफ्तारी के समय उस के पास रिवाल्वर भी था परन्तु उस ने अपने बचाव का या पकड़ने वालों पर चोट करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। यह समाचार सुन कर आजाद ने बड़ी निराशा से कहा—"यह साले ठंडी भी गये।"

कैलाशपति की गिरफ्तारी के समय उस के चुपचाप गिरफ्तार हो जाने से तो निराशा हुई ही थी परन्तु मैंने भैया से यह भी कहा कि मुझे तो उस के मुखबिर बन जाने की भी आशंका है। भैया को ऐसा लगा कि यह मैं कैलाशपति के प्रति व्यक्तिगत विरक्ति के कारण कह रहा हूं। मैंने अपनी बात स्पष्ट करके कहा कि यदि कैलाशपति बरस भर पहले गिरफ्तार हो गया होता तो मुझे ऐसी आशंका न होती परन्तु पिछले दिनों उस में मुझे एक ग्लानि उत्पन्न करने वाली विलासिता सी दिखाई देती रही थी। आजाद इस से क्या समझते? कैलाशपति वगैरा ने भी तो भैया से दिल्ली बम फैक्टरी के दिनों में मेरी विलासिता और फिजूल खर्ची की शिकायत की थी। यह चर्चा मैं पहले भी कर चुका हूं। वह विलासिता थी, लगातार आठ-दस घण्टे पिक्रिक एसिड बनाते समय, उस की विषैली गैस से सिर दर्द हो जाने पर घण्टे भर खुले टांगे में घूम लेना और फिर किसी रेस्टोरां में जाकर आइसक्रीम खा लेना। वास्तव में विलासिता किसी वस्तु या व्यवहार में नहीं दृष्टिकोण में ही होती है।

बहुत ही जल्दी, पांचवें ही दिन दिल्ली में धन्वन्तरी की भी गिरफ्तारी का समाचार था कि धन्वन्तरी अपने एक साथी के साथ टांगे पर बैठा चांदनी चौक से जा रहा था। पुलिस उसे पहचान कर पीछा करती आ रही थी। अपने लिये उपयुक्त स्थान देख कर पुलिस ने उसे घेर लिया और पकड़ो-पकड़ो का शोर मचा दिया। धन्वन्तरी ने रिवाल्वर निकाल कर पुलिस पर गोली चलायी। पुलिस के आदमी को चोट भी आयी। वह दस-पांच कदम भागा भी परन्तु पकड़ो-पकड़ो के शोर से चांदनी चौक में लाठी लेकर गश्त करते रहने वाले एक सिपाही ने उसे भागते देख कर उस पर लाठी का भरपूर वार कर दिया। धन्वन्तरी गिर कर पुलिस के काबू आ गया। सुखदेवराज ने भी यदि पुलिस पर गोली चलायी होती, दोनों साथ मिल कर लड़े होते तो क्या होता, यह उस समय हमें खयाल नहीं आया। उस समय तक साथी को छोड़ अपने प्राण बचाने के लिये भाग जाने की यह सुखदेवराज की दूसरी हरकत थी।

कैलाशपति की गिरफ्तारी के सप्ताह भर में बाबूराम साबुनी, खयालीराम गुप्त,

गिरवरसिंह, विमल आदि की गिरफ्तारियां शुरू हो गयीं। दिल्ली में तो हम लोगों के लिये स्थिति खतरनाक हो गई, दूसरी जगह भी इस का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ रहा था। आजाद ने मुझे परामर्श दिया कि मैं कानपुर आकर ही रहूं और अपनी स्वतंत्र जगह बना लूं तो अच्छा हो। कानपुर में उस समय तक मेरे अपने कोई सूत्र नहीं थे। भैया ने कुछ दिन के लिये मुंशीराम जी शर्मा 'सोम' के यहां मेरे और प्रकाशवती के लिये प्रबन्ध कर दिया। मुंशीराम जी उन दिनों कानपुर में गंगा किनारे परमट घाट पर रहते थे और डी० ए० वी० कालेज में हिन्दी के अध्यापक थे। अब भी वे डी० ए० वी० कालेज में ही हैं। सब ओर धड़ाधड़ गिरफ्तारियां होते समय मुंशीराम जी ने खूब जान-बूझ कर हमें शरण दी कि हम लोग कौन हैं और इस का क्या परिणाम हो सकता है।

मुंशीराम जी का मकान परमट घाट के सिरे पर ठीक सड़क पर ही था इसलिये मैं दूसरा प्रबन्ध करने की चिन्ता में था। कानपुर के गवर्नमेंट लेदर वर्किंग स्कूल का पता लेकर चौधरी रामधनसिंह से मिलने पहुंचा। रामधन बोर्डिंग में रहते थे परन्तु हमारी सहायता करने के लिये उन्होंने दो ही दिन में चुन्नीगंज के हाते में दूसरी मंजिल पर एक मकान ढूंढ़ लिया और हम लोग वहां चले गये।

कैलाशपति के गिरफ्तार हो जाने से अजमेर में डकैती नहीं हो सकी। आजाद ने कई दिन बल्कि दो-तीन मास से वीरभद्र को आर्थिक समस्या का उपाय करने के लिये एक डकैती की व्यवस्था करने की जिम्मेवारी सौंपी हुई थी। आर्थिक कठिनाई हम लोगों को बनी ही रहती थी। व्यापक सार्वजनिक आधार न होने के कारण कांग्रेस या कम्युनिस्ट पार्टी की तरह धन संग्रह किया नहीं जा सकता था। राष्ट्रीय भावना रखने वाले ऐसे लोग जो सौ-दो सौ रुपया दे सकने की स्थिति में थे, उन पर गांधी जी के हमें भटके हुये देशभक्त बता देने का काफी प्रभाव था। ऐसे लोग हमें जांबाज देशभक्त समझ कर हमारे दर्शन तो करना चाहते थे परन्तु हमें आर्थिक सहायता देना उचित नहीं समझते थे। इसमें खतरा तो था ही तिस पर गांधी जी क्रान्तिकारियों को सहायता देने का निषेध करते थे। ऐसे लोग सहायता देते समय हमारी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को ही ध्यान में रखते थे। वे देशभक्तों की सहायता तो करना चाहते थे परन्तु सशस्त्र क्रान्तिकारी आन्दोलन की नहीं। ऐसी मनोवृत्ति का बहुत अच्छा उदाहरण बाबू (राजऋषि) पुरुषोत्तमदास जी टंडन का व्यवहार था। बात साण्डर्स वध के बाद दिसम्बर १९२८ की है।

साण्डर्स वध के बाद दल के लोगों को लाहौर से निकाल ले जाने आदि के लिये रुपये की जरूरत थी। पुरुषोत्तमदास जी टंडन उन दिनों पंजाब नेशनल बैंक, लाहौर के मैनेजर थे। वेतन शायद आठ सौ रुपये मासिक था जो रुपये के उस समय के मूल्य

के विचार से आज तीन-साढ़े तीन हजार रुपया होना चाहिये। टंडन जी लाला लाजपतराय जी की कोठी के बगल की कोठी में एक ही हाते में रहते थे। उसी हाते में द्वारकादास पुस्तकालय था। कानपुर के प्रसिद्ध मजदूर नेता राजाराम जी शास्त्री द्वारकादास पुस्तकालय के लाइबरेरियन थे। आजाद और शास्त्री जी का बनारस से पुराना परिचय था। शास्त्री जी भगतसिंह, सुखदेव, मुझे और बहुत से लोगों को भी जानते थे। आजाद ने शास्त्री जी से कह कर टंडन जी से मिलने का समय नियत कर लिया था। टंडन जी ने कोई भय या झिझक नहीं प्रकट की। आजाद आये तो उन्होंने पीठ पर हाथ फेर कर कहा—"तुम्हारे ढंग और सिद्धान्त का समर्थन तो हम नहीं कर सकते परन्तु तुम देशभक्त और शूरवीर जरूर हो।"

आजाद के लिये किसी से कुछ मांगना बहुत ही कठिन काम था। फिर भी विवश हो आर्थिक सहायता की बात कही। टंडन जी ने उसमें भी संकोच नहीं किया। तुरन्त बिटिया को बुलाया और दस रुपया ला देने के लिये कह दिया। यह तो हो ही नहीं सकता था कि ऐसी परिस्थिति में आजाद की आंखों में सुर्ख डोरे न फिर गये हों। इस घटना की चर्चा करते समय ही उन्हें क्रोध आ जाता था पर टंडन जी के प्रति आदर और शिष्टाचार के कारण गम खा जाने के अतिरिक्त और चारा क्या था? इस उल्लेख का अभिप्राय यह है कि टंडन जी का जैसा त्याग का जीवन रहा है, कृपणता की बात सोची नहीं जा सकती। उस समय वे काफी समर्थ भी थे। उनके विचार में आजाद की आवश्यकता इससे अधिक और क्या होती? ऐसे ही अनुभवों के कारण आजाद या हम लोग राजनैतिक डकैती के लिये विवश हो जाते थे।

खास कर १९३० के अन्त में, लन्दन में गोलमेज कान्फ्रेंस द्वारा सरकार से समझौते की बात चल रही थी। अंग्रेज सरकार ने गोलमेज कान्फ्रेंस में कांग्रेस को भी निमंत्रण दिया था और खयाल था कि इस बातचीत से सन्तोषजनक स्वराज्य की रूप-रेखा निकल आयेगी। ऐसी अवस्था में कांग्रेसी राष्ट्रीय भावना रखने वाले लोग क्रान्तिकारियों को सहायता देकर व्यर्थ का व्याघात खड़ा करने में क्यों सहयोग देते।

कानपुर में धन कार्य

दल विकट आर्थिक कठिनाई में था। आजाद बार-बार वीरभद्र से ही 'मनी ऐक्शन' (धन कार्य) का प्रबन्ध करने के लिये कह रहे थे। हम लोग डकैती शब्द पसन्द नहीं करते थे। मजबूरी हो जाने पर धन के लिये जबरदस्ती करनी पड़ती तो उसे मनी ऐक्शन या धन कार्य ही कहते थे। इस काम का बोझ वीरभद्र पर डालने का एक कारण यह भी था कि आजाद आजमाना चाहते थे कि वीरभद्र जान बचाने

की ही फिक्र में तो नहीं। मेरे मामले में तो उन्हें वीरभद्र पर सन्देह था ही। वीरभद्र जिम्मेवारी डाली जाने पर हामी तो भर लेता परन्तु ठीक समय आने पर कोई अलंघ्य बाधा बताकर टाल जाता या कांग्रेसी मामले में गिरफ्तार होकर हवालात पहुंच जाता और कुछ दिन बाद अन्य कांग्रेसियों के साथ ही छूट आता। यह निश्चय हो जाने पर कि वीरभद्र सचमुच दल को धोखा दे रहा है, आजाद उसे दण्ड देना चाहते थे। ऐसा ही सन्देह दल के एक और पुराने साथी सतगुरुदयाल अवस्थी के प्रति भी उन्हें हो रहा था। शायद पिछले उदाहरण के कारण इस बार आजाद इन लोगों को अपनी सफाई का अवसर जरूर देना चाहते थे। इस समय लाहौर षडयंत्र का फैसला सुना दिया गया था। भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को फांसी का दण्ड सुनाया गया था पर दो-एक आदमी बरी भी हो गये थे। इन में कानपुर के सुरेन्द्र पांडे भी थे। सुरेन्द्र पांडे लौट कर आजाद से मिले और फिर दल का काम करने की इच्छा प्रकट की। सुरेन्द्र पांडे उत्तर प्रदेश, खास कर कानपुर में दल का काम आरम्भ होने के समय से साथ थे। इस के इलावा डेढ़ बरस सब साथियों के साथ जेल में सामूहिक अध्ययन और विचार करके लौटे थे। उन का सहयोग और परामर्श उस समय दल के लिये उपयोगी जान पड़ा।

आजाद ने वीरभद्र तिवारी और सतगुरुदयाल अवस्थी दोनों को ही संदेश भेजा कि वे आकर अपने व्यवहार की सफाई दें। इस समय कोई केन्द्रीय समिति तो थी नहीं। सम्भवतः सुरेन्द्र और आजाद के ही सामने यह बात हुई होगी। आजाद के संदेश के उत्तर में अवस्थी ने पत्र लिख कर उत्तर दिया कि उस पर किये गये संदेह झूठे और निराधार हैं पर मिलने नहीं आया। वीरभद्र स्वयं आया। आजाद ने उस से मुझे भेद मिलने के मामले में भी प्रश्न किया। मैंने तो इस विषय में कभी उस का नाम नहीं लिया था परन्तु वह नेकनीयती से भेद दे देने की बात कबूल गया। दूसरे अवसरों पर जान बचाने के लिये शिथिलता दिखाने के आरोप के उत्तर में उस ने विश्वास दिलाया कि भविष्य में ऐसी शिकायत का मौका नहीं आयगा।

वीरभद्र ने कानपुर, नयागंज में जहां दालमण्डी है, चमड़े के एक व्यापारी खोजे की गद्दी पर धन कार्य की योजना बनायी। बताया कि उस व्यापारी के यहां तिजोरी में ४०–५० हजार से लेकर लाख तक नकद रहता है। इस काम के लिये दिन और सूर्यास्त का समय भी निश्चित हो गया। भैया ने वीरभद्र को चेतावनी दी—"देखो ठीक समय पर कोई अड़ंगा न बता देना या जेल में न फिसल जाना।" फिर वही बात हुई। न जाने कैसे वीरभद्र फिर गिरफ्तार हो गया।

आजाद ने निश्चय कर लिया था कि इस बार काम टलेगा नहीं। जगह देख ली

गयी थी। प्रबन्ध ऐसा किया गया था कि वीरभद्र न हो तो भी काम न रुके। आजाद निश्चित समय साथियों को साइकलों पर लेकर खोजे के यहां पहुंच गये। तीनों साइकलें नीचे जीने के दरवाजे पर छोड़ दीं और दो साथी पिस्तौल लिये नीचे रहे कि इस बीच ऊपर कोई न जा पावे। ऊपर आजाद, सुरेन्द्र पांडे और शालिग्राम को लेकर गये।

गद्दी पर तोंदियल खोजे के अतिरिक्त दो मुनीम थे। आजाद ने पिस्तौल दिखा कर तिजोरी की चाबी मांगी। मालिक ने चिल्लाने के लिये मुंह खोल लम्बी सांस भरी। आजाद का थप्पड़ उस के फूले हुये गाल पर कुछ जोर से ही पड़ गया और डांट कर उन्होंने कहा—"चुप्प !" पुकार की चिल्लाहट खोजे के गले में ही रह गयी और मुंह भी खुला ही रह गया।

मुनीमों ने सामने तीन पिस्तौल देख कर तिजोरी की चाबी तुरन्त निकाल दी। तिजोरी खोल कर जो कुछ था एक थैले में समेट लिया गया। मुनीम शांत रहे। चलते समय टेलीफोन तोड़ दिया गया। सब कांड समाप्त हो जाने पर भी खोजा मालिक की बल पड़ी हुई तोंद पर रखे गोल-गोल चेहरे का मुंह खुला ही रहा और वह वैसे ही निश्चल बना रहा। आशंका हुई बेहोश हो गया होगा पर दूसरे दिन समाचार पत्रों से पता चला कि फिर उन के होश लौटे ही नहीं। इस कांड की निराशाजनक बात यह रही कि अपनी जगह लौट आने पर थैले में से कुल ग्यारह सौ रुपया ही निकला। भैया को तो इस बात के लिये भी वीरभद्र पर ही क्रोध आया कि क्या व्यर्थ जगह उस ने इस काम के लिये बता दी परन्तु समाचार पत्रों का भी कहना था कि संयोगवश उसी दिन दोपहर बाद खोजे ने लगभग एक लाख रुपया बैंक भिजवा दिया था। अखबारों की टीका-टिप्पणी में इस काम का बहुत ही दुस्साहस और चातुर्य पूर्ण बताया गया था क्योंकि खोजे की गद्दी के पिछवाड़े कुछ ही कदम पर उस समय नई सड़क पर बड़ी कोतवाली थी और नयागंज में तीन मकानों के बाद एक छोटी पुलिस चौकी थी। जो भी हो इस घटना से भैया को विश्वास हो गया कि वीरभद्र दल को धोखा देता है।

शहीद शालिग्राम

कैलाशपति की गिरफ्तारी के बाद भी आज़ाद दिल्ली को बिलकुल छोड़ देने के लिये तैयार नहीं थे। उन्होंने दिल्ली से प्रोफेसर नन्दकिशोर निगम को सलाह करने के लिये बुलाया था। ऐसी बातचीत के समय आज़ाद किसी समझदार आदमी को साथ रखते ही थे। इन दिनों सुरेन्द्र पांडे से ही अधिक परामर्श किया करते थे। सुरेन्द्र पांडे पुलिस की नजरों से बचे रहने के लिये अपना मकान छोड़ कानपुर में गंगा के किनारे ऊपर की ओर, नवाबगंज में एक बगिया में किराये पर लिये हुए छोटे से मकान

में शालिग्राम शुक्ल के साथ रहते थे।

शालिग्राम शुक्ल उससे पहले कुछ दिन यूथगार्ड में खूब भाग लेता रहा था। कानपुर में यूथगार्ड ऐसा ही संगठन था जैसा लाहौर में नौजवान भारत सभा थी। यूथगार्ड के लोग वर्दी पहन कर कवायद वगैरा भी करते थे और राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेते थे। किसी एक अवसर पर पुलिस वालों के हस्ताक्षेप करने पर शुक्ल और उसके एक साथी ने पुलिस वालों को पीट दिया था। पुलिस शुक्ल को गिरफ्तार करना चाहती थी। शुक्ल दल के छोटे-मोटे कामों में पहले भी सहयोग देता ही था। अब वह पुलिस की नजरों से बच कर बिलकुल दल का ही काम करने लग गया था और नवाबगंज में पांडे के साथ ही रहता था।

आज़ाद ने निगम और पांडे से मिलने का समय तड़के छः बजे और स्थान ग्रीन पार्क में डी० ए० वी० कालिज के सामने नियत किया था। पांडे को निश्चित स्थान पर ले आने का काम शालिग्राम शुक्ल के ही जिम्मे था। घड़ी इन लोगों के पास नहीं थी। समय से पिछड़ न जाने के खयाल से यह लोग काफी तड़के, अंधेरा रहते चल दिये थे। ग्वालटोली की हालत उन दिनों काफ़ी खराब थी। सड़क पर खूब गहरे खांचे पड़े रहते थे। पांडे और शुक्ल साइकलों पर आ रहे थे। एक गहरे खांचे में पांडे को साइकल का अगला पहिया पड़ने से जोर का झटका लगा। हैंडल पर रखा साइकल का पम्प गिर कर पहिये की सीखों में अड़ गया। कई सीखें टूट गयीं और पहिया टेढ़ा हो गया। यह लोग ग्रीन पार्क तक पैदल ही पहुंचे।

यह लोग ग्रीन पार्क पहुंचे तो अभी छः बजने में काफ़ी समय जान पड़ा। शालिग्राम ने पांडे से कहा—"हो सकता है कहीं आगे भी जाना पड़े। डी० ए० वी० कालिज के बोर्डिंग में जान-पहचान वाले लड़के हैं। तुम यहां हो ठहरो। मैं टूटी साइकल बदलवा लाता हूं।" शुक्ल पांडे को ग्रीन पार्क के परमट की ओर के कोने पर छोड़ कर स्वयं टूटी साइकल ले बोर्डिंग के दरवाजे की ओर चल दिया। शुक्ल कालिज की इमारत के अंत में बोर्डिंग के फाटक के पास पहुंचा ही था कि पांडे को उस ओर से बिजली की टार्च से फेंकी रोशनी दिखाई दी और फिर शुक्ल की पुकार सुनाई दी—"Beware ! Beware !" (सावधान ! सावधान !) इसी समय एक पिस्तौल की गोली चली और फिर तुरंत ही राइफल की गूंज सुनाई दी।

हुआ यह कि बोर्डिंग के फाटक के सामने ग्रीन पार्क के कोने पर आग्जिलियरी फोर्स का दफ्तर था जहां सशस्त्र गोरा सिपाही पहरे पर तैनात रहता था। जिस समय शुक्ल यहां पहुंचा, जाने किस कारण खुफिया पुलिस का इंस्पेक्टर शम्भुनाथ दो-तीन सिपाहियों के साथ मौजूद था। इन लोगों ने शुक्ल पर रोशनी फेंक कर उसे पहचान

लिया । इंस्पेक्टर उसे पकड़ना चाहता था । शुक्ल ने आगे भाग जाने की कोशिश की पर साइकल टूटी होने के कारण विवश था । हाथा-पाई हुई । एक कांस्टेबल या इंस्पेक्टर ने छोटा डंडा शालिग्राम के सिर में मार दिया । इसी समय शालिग्राम ने पुकार कर चेतावनी दी थी क्योंकि एक ओर पांडे था और दूसरी ओर से आजाद के आने की भी आशा थी । घिर जाने पर शुक्ल ने जेब से पिस्तौल निकाल कर सामना किया । उसकी गोली एक सिपाही की जांघ में लगी । इंस्पेक्टर और तीनों सिपाही शरण के लिये आग्जिलियरी फोर्स के दफ्तर में घुस गये । शुक्ल साइकल छोड़ भागने लगा । यह देख कर ड्यूटी पर खड़े गोरे सिपाही ने शुक्ल की पीठ में राइफल से गोली मार दी । शुक्ल सड़क पर गिर पड़ा ।

आग्जिलियरी फोर्स के दफ्तर में जाकर इंस्पेक्टर ने फिर बाहर आने से पहले कोतवाली को फ़ोन कर और सहायता के लिये दूसरे सशस्त्र सिपाहियों को बुला लिया । इस काम में दस-पन्द्रह मिनिट लगे ही होंगे । शुक्ल पीठ में राइफल की गोली से घायल होकर आग्जिलियरी फोर्स के दफ्तर के सामने पड़ा था । एक ओर उसकी साइकल पड़ी थी । इसी बीच आजाद साइकल पर उस स्थान से ग्रीन पार्क के परमट की ओर वाले कोने पर पहुंचने के लिये गुजरे । उन्होंने एक जख्मी नौजवान और साइकल सड़क पर इधर-उधर पड़ी हुई तो देखी पर यह अनुमान न कर सके कि कोई अपना आदमी होगा । ग्रीन पार्क के कोने पर किसी को न पाकर वे परमट घाट पर पंडित मुंशीराम जी के मकान पर पहुंचे । सुरेन्द्र पांडे शुक्ल की सावधानी की ललकार और बाद में पिस्तौल और राइफल की आवाज सुनकर अपनी जगह पर खड़े रहना व्यर्थ और आपद्जनक समझ वहां से मुंशीराम जी के यहां चला गया था । पांडे से सुनकर आजाद को मालूम हुआ कि आग्जिलियरी फोर्स के दरवाजे पर गिरा पड़ा आदमी शालिग्राम शुक्ल ही था । आजाद और पांडे का अनुमान था कि शुक्ल राइफल की गोली से मारा गया है । खैर अब क्या हो सकता था ।

इनके बात करते-करते फिर बोर्डिंग के फाटक की ओर से गोलियां चलने और चिल्लाने की आवाजें सुनाई दीं और बिलकुल सन्नाटा छा गया । जिस समय आजाद बोर्डिंग के फाटक के सामने से गुजरे थे शालिग्राम घायल तो था परन्तु अभी सचेत था । उसने आजाद को जाते भी देखा होगा परन्तु उसने सहायता के लिये चिल्लाया या पुकारा नहीं । दम साधे रहा कि आजाद के प्रति किसी को सन्देह न हो लेकिन चार पांच मिनिट बाद जब सशस्त्र सिपाहियों के आ जाने पर पुलिस उसे मरा समझ कर उठाने के लिये समीप आयी तो उसने फिर तीन-चार गोलियां चलायीं और दो और सिपाहियों को घायल कर दिया । सिपाही चिल्लाकर पीछे हट गये और कुछ दूर

से उस पर गोलियां चलाने लगे। उसके बिलकुल निश्चल हो जाने पर ही पुलिस उसे एक लारी में उठा कर ले गयी। शालिग्राम शुक्ल का नाम किसी षड़यंत्र केस में नहीं आया, कभी उसके नाम की जय नहीं पुकारी गयी परन्तु धैर्य और वीरता में वह हमारे किसी भी वीर साथी से कम नहीं था।

बराल में प्रकाशवती को आराम और सुविधा तो सब थी परन्तु संतोष नहीं था। वे काम में सहयोग देने के लिये हम लोगों के साथ ही रहना चाहती थीं। मैं एक सुरक्षित स्थान जमाने की चिन्ता में था। कुछ साथी इलाहाबाद में रहते थे। उन लोगों से सलाह मशविरा करने भैया के साथ इलाहाबाद गया था। इलाहाबाद में अचानक बलदेव जी चौबे से मुलाकात हो गयी।

चौबे जी से परिचय लाहौर से ही था। वे लाला लाजपतराय जी के लोक-सेवक मंडल (सर्वेन्ट्स आफ पीपुल्स सोसायटी) के सदस्य थे। आजीवन देशसेवा का ब्रत लिये हुये। परम गांधीवादी और बाबू पुरुषोत्तमदास जी टंडन के अनुयायी।

चौबे जी इलाहाबाद में गंगापार, टंडन जी के निर्देश में हिन्दी विद्यापीठ चला रहे थे। यहां ग्रामीण विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा और भोजन दिया जाता था। विद्यापीठ एक प्राचीन मन्दिर और उस के साथ बने पक्के मकान में थी। आस-पास मील डेढ़ मील तक कोई बस्ती नहीं, घोर सुनसान। चौबे जी आत्मीयता से मिले। मेरे फरार होने या मुकद्दमे की बाबत वे सब कुछ जानते थे। उन से पूछा—"यदि कभी जरूरत पड़ जाय तो आप के यहां शरण मिल सकेगी ?"

"अरे वाह," चौबे जी ने उत्तर दिया, "घर तुम्हारा है। हम से जो बन पड़े। तुम जान दे रहे हो अपनी···!"

यह बात इसलिये कह रहा हूं कि यद्यपि गांधी जी क्रान्तिकारियों की घोर निन्दा करते रहते थे परन्तु गांधीवादियों के मन में, गांधी जी द्वारा हम लोगों के कामों की निन्दा के बावजूद, हम लोगों के प्रति सदा ही एक अनुराग और आदर पाया। इलाहाबाद, मेरठ, दिल्ली और लाहौर के गांधीआश्रम या खद्दरभंडार हम लोगों के संदेश भेजने और पाने के नियमित अड्डे थे। विशेष कर उत्तर प्रान्त में बैनर्जी बंधुओं के सहयोग के कारण। लाहौर के खद्दर भंडार में हमारा कालिज का सहपाठी जसवंतसिंह ही था। जसवंतसिंह को प्रायः ही हम लोगों की गतिविधि मालूम रहती थी। पूर्णरूप से वह हम लोगों में जो नहीं मिल गया उस का कारण यही था कि उस की दृष्टि में हम लोग काफी चतुर और बुद्धिमान नहीं थे परन्तु सहायता उस से मिलती ही रहती थी।

अस्तु, मैं और प्रकाशवती कुछ दिन के लिये चौबे जी की विद्यापीठ में जा टिके।

जाड़े के दिन थे इसलिये पुराने ढंग की मोटी दीवार और बिना रोशनदान की कोठड़ी में सोने से भी परेशानी नहीं होती थी। विद्यापीठ क्योंकि दान के रूप में चल रही थी इसलिये विद्यार्थियों को प्रायः ही बाजरे का दलिया या बाजरे की रोटी और एक दाल या साग खाने के लिये मिलता था। चौबे जी स्वयं और उन की दस-बारह वर्ष की पुत्री माधवी भी यही खाते थे परन्तु हम दोनों के लिये चौबे जी कुछ मेवे और फल ले आते थे। इस से बहुत संकोच अनुभव होता था।

मैं प्रायः ही इलाहाबाद में साथियों से मिलने-जुलने के चक्कर में रात नौ-दस बजे लौटता था। उस समय यमुना में नाव नहीं मिल सकती थी इसलिये यमुना के पुल से होकर आने में तीन-साढ़े तीन मील का चक्कर पड़ जाता था। साइकिल थी इसलिये कोई कष्ट नहीं जान पड़ता था। एक रात मैं लौटा तो समीप की बस्ती से भय और आशंका का हल्ला सुनाई दे रहा था, जैसे डाका पड़ रहा हो। घर पहुंच कर चौबे जी को बहुत परेशान पाया। कारण यह था कि पड़ोस के किसी गांव में एक भैंसा पागल हो गया था और सड़क पर आते-जाते लोगों पर आक्रमण कर रहा था। चौबे जी को भय था कि कहीं मैं अंधेरे में भैंसे की झपट में न आ जाऊं। यों भी सभी आशंकित थे। मैंने सुझाया कि ऐसी बात है तो भैंसे को गोली मार देनी चाहिये।

चौबे जी ने सोच कर कहा—"पागल भैंसे को गोली मारने के लिये जाने में भी तो खतरा है।"

मैंने स्वीकार किया—"खतरा तो जरूर है पर यों भी तो बीसियों जानों को खतरा है।" भैंसा दो चार झोपड़ियां गिरा भी चुका था। भैंसे को गोली मारने के लिये जाने पर लोगों का ध्यान आकर्षित करने की आशंका तो थी पर उस समय यह कर्त्तव्य जान पड़ा। चौबे जी से बात की—"मेरे पास पिस्तौल तो है परन्तु पिस्तौल से गोली मारने के लिये भैंसे के बहुत समीप जाना पड़ेगा और पिस्तौल की गोली भैंसे का क्या बिगाड़ेगी ? मामूली सा घाव हो जायगा—भैंसा और बिगड़ेगा।"

"बन्दूक तो है पर बहुत दिन से ऐसे ही रखी है।" बहुत सोच कर चौबे जी ने उत्तर दिया।

मैंने आग्रह किया—"कहां है, देखें तो। कारतूस भी हैं ?"

चौबे जी ने उत्तर दिया—"भाई यह सब क्या होता है सो मालूम नहीं। देख लो !"

चौबे जी दिया लेकर एक अंधेरी कोठड़ी से लाल कपड़े की लम्बी थैली में लिपटी बंदूक उठा लाये। उसे खोल कर देखा तो जंगाल लगी एक नाली की गज से बारूद भरने वाली बंदूक थी। शायद मराठों के जमाने की। गोली-बारूद कुछ नहीं। साथ भरने का गज जरूर था। मन में बहुत खेद हुआ। यह थी अंग्रेजी राज की नीति।

अपने प्रति विद्रोह हो सकने की कोई भी सम्भावना न रहने देने के लिये उस सरकार ने इस देश के लोगों को कितना निस्सहाय बना दिया था और गांधी जी राष्ट्र की उसी निस्सहाय अवस्था को आत्मिक शक्ति का नाम दे रहे थे। चौबे जी से यही बात कह कर मैंने यह भी कहा—"तो फिर चौबे जी, अहिंसा के आत्मिक बल से ही उस भैंसे का हृदय परिवर्तन किया जाये !" चौबे जी ने मेरी विश्वास की शक्ति की न्यूनता के प्रति दुख से एक गहरी सांस ले उत्तर दिया—"भाई विश्वास की बात है।"

लैमिंगटन रोड गोलीकांड

प्रथम लाहौर षडयंत्र का मामला पंजाब के गवर्नर की आज्ञा से एक विशेष अदालत को सौंप दिया गया था। अभिप्राय था कि छोटी अदालत और सेशन अदालत की कार्यवाही में अधिक समय न लगे। इस विशेष अदालत को सेशन अदालत के अधिकार अर्थात फांसी तक की सजा देने तक का अधिकार दे दिया गया था। इस अदालत ने १६३० अक्टूबर मास के अन्त में भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु की फांसी की और शेष बहुत से साथियों—बटुकेश्वरदत्त, शिव वर्मा, जयदेव कपूर, महाबीरसिंह आदि को आजन्म काले पानी की सजा सुना दी थी। हम लोग इस अवसर पर कुछ विरोध प्रकट करना चाहते थे परन्तु पंजाब में दूसरे षडयंत्र के साथियों के भी गिरफ्तार हो जाने पर स्थिति बहुत कमजोर थी। वही बात उत्तर प्रदेश में भी थी। आजाद का विचार था पंजाब और उत्तर प्रदेश में पुलिस के बहुत चौकस हो जाने के कारण दक्षिण में ही कुछ क्यों न किया जाये। उस से आन्दोलन की व्यापकता भी बढ़ेगी।

गदर पार्टी के समय के एक बहुत पुराने क्रांतिकारी साथी पृथ्वीसिंह आजन्म कारावास की सजा पाकर मद्रास जेल में थे। उन्हें अमरावती जेल में बदला जा रहा था। लगभग अमानुषिक साहस से वे बेड़ियां पहने ही चलती गाड़ी से कूद गये थे। कूद कर बच गये थे और बरसों से भेस बदले गुजरात में स्वामीराव के नाम से अखाड़े वगैरा बना कर युवकों में स्वास्थ्य-सुधार, व्यायाम और राष्ट्रीय भावना का प्रचार भी कर रहे थे परन्तु ऐसे ढंग से कि पुलिस चौंके भी नहीं। पृथ्वीसिंह के गुजरात में होने की बाबत दल को मालूम था। धन्वन्तरी उन से मिल चुका था। उन के अनुभव से लाभ उठाने के लिये और दल के काम में सहयोग देने के लिये उन से अनुरोध किया गया। धन्वन्तरी स्वामीराव को इलाहाबाद ले आये। वहां आजाद से उन की मुलाकात हुई। स्वामीराव ने गुजरात और महाराष्ट्र में काम चालू करने की जिम्मेवारी ले ली। कुछ मास बीत चुके थे पर अभी वहां कुछ हो नहीं पाया था।

दुर्गा भाबी कानपुर में थीं। दल की निष्क्रियता उन्हें अखर रही थी। वे काम में

सक्रिय योग देना चाहती थीं। उस समय उत्तर भारत में पर्दे का रिवाज आज की अपेक्षा कहीं अधिक और कड़ा था। किसी स्त्री का घूम-फिर कर काम करना ध्यान आकर्षित किये बिना न रहता। लोग ऐसी महिला के मायके और सुसराल दोनों की ही खोज किये बिना न रह सकते थे। गुजरात और महाराष्ट्र के संयुक्त केन्द्र बम्बई में पर्दे का रिवाज तब भी अधिक न था। भैया ने यही उचित समझा कि भाबी बम्बई जाकर स्वामीराव और उन के दूसरे साथियों को काम बढ़ाने की प्रेरणा और सहयोग दें।

दुर्गा भाबी के बम्बई पहुंचने के बाद तुरन्त ही एक बड़ा कांड करने की बात सोची गयी। यह थी लाहौर षडयंत्र के लोगों को दी गयी सजाओं के विरोध में बम्बई के गवर्नर को गोली मारने का निश्चय। उस के लिये योजना बनाने का काम स्वयं स्वामीराव और स्थानीय साथियों के हाथ में था।

दुर्गा भाबी के कानपुर लौटने पर इस योजना का ब्यौरा सुन कर हम लोगों को आश्चर्य ही हुआ था कि सफलता की आशा कैसे कर ली गयी थी ? बम्बई गवर्नमेंट हाउस के भीतर जाकर गवर्नर को गोली मारने का विचार था। गवर्नर सुबह आठ-नौ बजे नाश्ते के बाद बराम्दे में बैठ कर अखबार पढ़ा करता था। निश्चय था कि दुर्गा भाबी एक उधार मांगी हुई गाड़ी में गवर्नमेंट हाउस में चली जायंगी। अपना कार्ड गवर्नर के पास भेजेंगी। जब गवर्नर उन्हें मिलने के लिये बुलायेगा वे उसे गोली मार देंगी।

प्रश्न उठा कि दुर्गा भाबी के साथ दूसरा कौन व्यक्ति जायेगा ? दुर्गा भाबी ने कहा कि दूसरा आदमी स्वामीराव रहे। स्वामीराव का विचार था कि वे भाबी के साथ न जाकर पीछे रहें। जब भाबी और दूसरा साथी भागने लगे और पुलिस उन का पीछा करे तो वे उन की रक्षा के लिये लड़ें। भाबी ने आग्रह किया, नहीं इस की कोई जरूरत नहीं। स्वामीराव को साथ ही रहना चाहिये। अस्तु—

योजना बनाने वालों को यह भी मालूम नहीं था कि किसी गवर्नमेंट हाउस में हर एक गाड़ी को चले जाने की इजाजत नहीं होती थी। कई दिन पहले इजाजत मांगी जाती थी और आवश्यक पूछताछ के बाद प्रार्थी को भीतर जाने की आज्ञा मिलती थी। दुर्गा भाबी योजना बनाने वालों के भरोसे निश्चित दिन की प्रतीक्षा करती रहीं। जब तारीखें टलने लगीं तो उन्होंने आपत्ति की। आखिर एक दिन निश्चय हो ही गया। स्वामीराव के साथी वैशम्पायन (विश्वनाथ गंगाधर वैशम्पायन नहीं) एक बड़े सेठ से मिले और देशसेवा के काम के लिये मोटरगाड़ी मांग लाये। सधा हुआ सैनिक ड्राइवर बापटे गाड़ी चलाने के लिये बैठा। स्वामीराव ड्राइवर के साथ आगे थे। पीछे दुर्गा भाबी और सुखदेवराज भरे हुये पिस्तौल लेकर बैठे। गाड़ी गवर्नमेंट हाउस की ओर

चली। गाड़ी भीतर कैसे जाती इसलिये फाटक के सामने से निकल गयी। स्वामीराव के आदेश से दो-तीन बार ऐसे ही चक्कर काटे गये। उस दिन मालाबार हिल के एक चौराहे 'तीनबत्ती' पर गाड़ियों का चेकिंग भी हो रहा था। शायद लाइसेंसों की पड़ताल के लिये नम्बर नोट किये जा रहे थे। गाड़ी दो-तीन बार उसी चौक से गुजर गयी और फिर स्वामीराव के आदेश से नीचे मैरीन ड्राइव, फोर्ट, कोलाबा, बाइकुला, दादर, महीम जाने कहां-कहां दिन भर घूमती रही। दुर्गा भाबी को जिद्द चढ़ी हुई थी कि काम उसी दिन पूरा हो। वे अगले दिन पर टाल देने के लिये तैयार नहीं थीं।

गाड़ी को बम्बई की सड़कों पर घूमते-घूमते शाम का अंधेरा हो गया। गाड़ी लैमिंगटन रोड से जा रही थी और ग्रांट रोड लांघना चाहती थी। वहां आमदरफ्त की निगरानी करने वाले पुलिस के सिपाही ने पहले ग्रांट रोड पर से जाने वाली गाड़ियों को राह देने के लिये लैमिंगटन रोड से आने-जाने वाली गाड़ियों को रोक दिया। स्वामीराम ने क्रोध से चौराहे के बीच खड़े पुलिस के सिपाही की ओर देख कर हुक्म दे दिया—"फायर (गोली दाग दो) !" दुर्गा भाबी और सुखदेवराज हैरान ! वे स्वामीराव की ओर देख कर चुप रह गये।

अस्तु, गाड़ी को रास्ता मिला। गाड़ी लैमिंगटन रोड पुलिस स्टेशन से कुछ कदम आगे, जहां अब 'नाज' सिनेमा है, स्वामीराव की आज्ञा से खड़ी हो गयी। उन दिनों बम्बई की पुलिस में बहुत से गोरे सार्जेन्ट रहते थे। पुलिस स्टेशन से दो सार्जेन्ट अपनी स्त्रियों या प्रेमिकाओं की बाहों में बाहें डाले सड़क के साथ की पटरी पर चले जा रहे थे। इन में से एक जोड़ा गाड़ी की बगल समीप आ गया। स्वामीराव ने फिर आज्ञा दी—"शूट (गोली दागो) !" इस बार दुर्गा भाबी और सुखदेवराज ने गोली चला दी। सोचा होगा, गवर्नर न सही कोई अंग्रेज तो है। पिस्तौल की गोलियां गोरे सार्जेन्ट की जांघ में और उस की स्त्री की बांह में लगीं। स्वामीराव की आज्ञा से मोटर दौड़ पड़ी।

जख्मी हो जाने वाले जोड़े के पीछे आने वाले सार्जेन्ट ने समीप ही खड़ी एक मोटर लेकर गाड़ी का पीछा किया पर फौजी ड्राइवर गाड़ी को बचा ही ले गया। मोटर आधी रात तक इधर-उधर चक्कर काट कर दल के स्थान पर पहुंची। दुर्गा भाबी का चार वर्ष का पुत्र शची बम्बई में साथ ही था। भाबी ने शची को साथ ले बाबा सवारकर के मकान पर पहुंच कर अनुरोध किया—"...दो-चार दिन में लौट कर आऊंगी तब तक इसे रख लीजिये।" और यह लोग मोटर में कल्याण तक जा कर झांसी की गाड़ी में चढ़ गये।

अगले दिन पत्रों में गत संध्या का समाचार छपा। समाचार में यह भी था कि पुलिस को गोली मारने वाली एक महिला थी। बाबा सावरकर ने स्थिति भांप कर

शची को अपने यहां रखना उचित न समझा और वैशम्पायन के यहां भिजवा दिया। दुर्गा भाबी कानपुर पहुंची तो इस व्यर्थ घटना के लिये बहुत खिन्न थीं लेकिन उन के बम्बई से लौट आने से स्वामीराव की जहमत तो टल गयी।

इस के कुछ वर्ष बाद पृथ्वीसिंह गांधी जी से मिले और उन्हें अपना वास्तविक परिचय दिया। गांधी जी ने उन्हें पुलिस को आत्म-समर्पण करने की सलाह देकर यह आश्वासन भी दिया कि यदि वे सशस्त्र क्रान्ति का मार्ग छोड़ कर गांधीवादी कार्यक्रम में सहयोग देने का निश्चय कर लें तो गांधी जी अपने प्रभाव से उन्हें सरकार से मुआफी दिलाने का भी यत्न करेंगे। पृथ्वीसिंह ने गांधी जी का परामर्श मान लिया। शायद इस निश्चय पर कि पृथ्वीसिंह गांधी जी के साथ गांधी आश्रम में ही रहेंगे, सरकार ने उन्हें मुआफी दे दी।

पृथ्वीसिंह कई वर्ष गांधी आश्रम में रह कर गांधी जी के निर्देश में काम करते रहे। स्वराज्य के पश्चात् वे गांधी आश्रम छोड़ कर अपना पृथक काम करने लगे। मार्च–१९५४ बम्बई में पृथ्वीसिंह ने बातचीत में एक रोचक घटना सुनाई—गांधी जी ने पृथ्वीसिंह को उत्साहित किया था कि वे आपबीती लिखें और गांधी जी उस पुस्तक की भूमिका या परिचय लिखकर किसी प्रकाशक को पुस्तक प्रकाशित कर देने की सिफ़ारिश कर देंगे। ऐसा होने से पुस्तक की पचास हजार या लाख प्रतियां बिक जाना कोई बड़ी बात न थी। पृथ्वीसिंह ने आपबीती लिखी पर उसे देखकर गांधी जी ने भूमिका या परिचय लिखना स्वीकार न किया। गांधी जी का प्रयोजन था कि पृथ्वीसिंह पश्चात्ताप की भावना से पुस्तक लिखें परन्तु पृथ्वीसिंह के मन में गांधी जी के वर्षों के सहवास से भी ऐसी भावना उत्पन्न न हुई बल्कि उतने वर्ष गांधी जी के निर्देश में बिता देने से भी कोई संतोष नहीं हुआ। १९५४ में वे गांधीवादी कांग्रेसी कार्यक्रम की अपेक्षा कम्युनिस्ट पार्टी के ही कार्यक्रम में विश्वास रखते थे।

नवम्बर के महीने में चामत्कारिक शक्ति का वैज्ञानिक पदार्थ देने के लिये हंसराज वायरलेस द्वारा बतायी तारीख आ रही थी। भैया आजाद ने कहा, यह तारीख मत चूको; कराची हो ही आओ। मैं फिर कानपुर से कराची के लिये चला। इस बार शुरू से ही भठिण्डा से सम्मासट्टा के रास्ते गया। हंसराज पुरानी जगह अपने भाई ब्रह्मदेव के यहां ही था। उसने कहा कि चीज़ तैयार है कल तुम्हें दे दूंगा। दूसरे दिन उसने मुझे कत्थई रंग के तरल पदार्थ से भरी एक छोटी पर चौड़ी बोतल दे दी। बोतल के शीशे के डाट पर मोम और कपड़ा लगाकर उसे सुरक्षित कर दिया गया था। साथ एक छोटी-सी शीशी भी थी। उसने बताया कि छोटी शीशी बोतल के साथ रखने से बोतल की शक्ति शांत रहेगी। छोटी शीशी बोतल से दो गज से अधिक दूर ले जाने

पर बोतल से पांच सौ गज दूर तक पहुंचने वाली बिजली की लहरें उत्पन्न होने लगेंगी। मैंने चाहा कि उसका परीक्षण उसी के सामने अपने हाथ से कर लूं पर हंसराज ने आश्वासन दिया—"विश्वास रखो, जैसे देहली में परीक्षण करते थे वैसे ही जब चाहो करके देख लेना। यहां मेरी भाबी और भाई के सामने कुछ करना ठीक नहीं।" मैं उसकी बात पर विश्वास के अतिरिक्त और कर भी क्या सकता था ?

हंसराज का दिया सामान लेकर मैं बहुत उत्साह से लौटा। किसी खतरे की आशंका न रहे इस विचार से कराची से समुद्र के रास्ते बम्बई जाकर लौटने का निश्चय किया। अपने ख्याल में यह लम्बा रास्ता इसलिये चुना था कि निरापद होगा पर यह अज्ञान ही था। दो दिन तो समुद्र में लग गये। जहाज में तीसरे दर्जे में डेक पर ही सफर कर रहा था। सहयात्रियों की बातचीत से पता लगा कि बम्बई में चुंगी पर जेबों और सामान की भयंकर तलाशी होगी। जहाज बीच में एक दो जगह रुकता हुआ जाता था। लोग प्रायः ही चुंगी की चीजें चोरी से ले जाने का यत्न किया करते थे। यह सुना तो प्राण सूख गये। चुंगी वालों को इस बोतल के विषय में क्या बताया जा सकता था ? उसे खोला जाता तो हंसराज के कथनानुसार वह व्यर्थ हो जाती और फिर अपनी जेब में जो पिस्तौल था उसका क्या जवाब होता ? पर चलते जहाज में से लौटा तो जा नहीं सकता था। सोचा, भयंकर भूल हो गयी। अब लौटने या बचाव का तो रास्ता था नहीं। चुंगी वालों द्वारा चेकिंग के विकट क्षण की प्रतीक्षा करने लगा। निश्चय था, बिना किसी कारण के गोली चलाकर, स्मगलर समझा जाकर प्राण देना ही बदा है। जहाज पर दो दिन मन बहुत दुखी रहा। जान पड़ता था, चूहा बनकर चूहेदानी में आ फंसा हूं; अपने अज्ञान के लिये पछताता रहा।

बम्बई बन्दरगाह पर बचकर निकल जाने की राह नहीं थी। कम से कम मैं तो स्थान से परिचित भी न था। यदि कोई आशा थी तो साहस से निर्दोष होने के अभिनय से ही। वही किया। दूसरे मुसाफिरों से कुछ धक्का-मुक्की कर अपना सूटकेस चुंगी वालों के आगे कर प्रार्थना की—"साहब, इसे जल्दी देख लीजिये मुझे स्टेशन से यही गाड़ी पकड़नी है।" चुंगी का बाबू मेरे तहाकर रखे मैले कपड़ों को उलटने-पलटने लगा। मैं सोच रहा था कि अब इसने मेरी जेब टटोली या सूटकेस की तह में हाथ डाला और मैंने गोली चलायी पर मेरी उतावली और स्वयं सूटकेस खोल देने के ढंग से बाबू का समाधान हो गया। उसने सूटकेस बन्द कर उस पर खड़िया से पास का निशान बना दिया। जान बची।

कानपुर पहुंचा। भैया और मैं बड़ी उमंग से बैटरी लेकर परीक्षण करने बैठे। परिणाम कुछ न हुआ। दूसरा बल्ब और बैटरी लेकर आजमाया। फिर वही बात।

भैया ने बोतल को उठाकर कोने में दीवार से दे मारा। इसके बाद हम लोगों ने फिर हंसराज वायरलेस को परेशान नहीं किया या उससे परेशान नहीं हुए। १६४६ के बाद हंसराज ने अपने वायरलेस के जादू को जीविका का साधन बना लिया। लखनऊ की प्रदर्शनी में वह अपने करतब दिखा रहा था। यूनीवर्सिटी के साइन्स के छात्रों ने कुछ प्रश्न किये। इस पर झगड़ा हो गया। विद्यार्थियों ने जगह खोद कर वायरलेस का रहस्य प्रकट कर दिया। हंसराज को बिना लाइसेंस जादू का पेशा करने के कारण दो रात हवालात में रहना पड़ा।

इस समय तक कुछ गिरफ्तारियां ऐसी हो चुकी थीं जिनके कारण कैलाशपति के मुखबिर बन जाने का विश्वास हमें हो गया था। दिल्ली में यह भी पता लग चुका था कि पुलिस कैलाशपति को विशेष सुविधायें दे रही थी और रामजस स्कूल के ड्रिल मास्टर राजबलीसिंह की पत्नी कमला उससे हवालात में मिलने जाती रहती थी। कैलाशपति, गिरफ्तारी के समय कमला के साथ रह रहा था। वह अपने मकान की गली में, अपने मकान के दरवाज़े के समीप ही गिरफ्तार हुआ था। हम लोगों से सहानुभूति रखने वाले कुछ लोगों ने राष्ट्रीय भावना रखने वाले पुलिस और जेल के आदमियों से मिल कर कमला के कैलाशपति को जेल में जाने वाले पत्रों की नकलें भी ले लीं। इन लोगों का विश्वास था कि कैलाशपति की इस कायरता का कारण कमला के लिये उस का मोह था। कमला ने रो-रोकर कैलाशपति को मुखबिर बन जाने के लिये विवश कर दिया था। इस उदाहरण को इस बात का प्रमाण बना लिया जा सकता है कि क्रान्तिकारियों का किसी स्त्री से प्रेम या सम्बन्ध उचित नहीं था।

कैलाशपति के बयान से यह स्पष्ट हो गया था कि वह गिरफ्तारी के तीसरे या चौथे दिन ही प्राणभिक्षा के वायदे पर मुखबिर बन गया था। कमला के प्रति उसके प्रेम के विषय में यह भी सोचा जा सकता है कि यदि कमला दूसरे ढंग की औरत होती, अर्थात् कैलाशपति से कहती कि तुम्हारी वीरता और शहादत के लिये मुझे अभिमान होगा तो कैलाशपति का व्यवहार कैसा होता? स्त्रियां और पुरुष दोनों ही तरह के होते हैं। यह अवश्य कहा जा सकता है कि कैलाशपति ने अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के कारण गलत ढंग की स्त्री से प्रेम किया।

वीरभद्र की उलझन

कैलाशपति जैसे महत्वपूर्ण व्यक्ति के मुखबिर बन जाने से हम सभी को बहुत धक्का लगा। आजाद के मन में विशेषकर यह प्रतिक्रिया हुई कि दल द्वारा मुखबिरों को कोई दण्ड न दिया जा सकने के कारण लोग मुखबिर बन जाने से नहीं हिचकते

इस घटना से मुखबिरों के प्रति आज़ाद का क्रोध और भी उबल पड़ा ।

एक समस्या यह भी थी कि कैलाशपति से परिचित अनेक लोगों के गिरफ्तार हो जाने के बाद भी वीरभद्र तिवारी के खिलाफ कोई कारवाई क्यों नहीं की गयी ? वीरभद्र उस समय भी श्रद्धानन्द पार्क में अपने मकान में ही रहता था और बाजार में जहां-तहां घूमता भी दिखाई दे जाता था । वीरभद्र खुफिया पुलिस के इंस्पेक्टर पंडित शम्भुनाथ का केवल पड़ोसी ही नहीं था बल्कि ऐसी धारणा थी कि दोनों परिवारों में काफी सौहार्द्य और सम्बन्ध भी था । आजाद के मन में सन्देह बैठ गया कि वीरभद्र विश्वासघाती है, दोहरी चाल चल रहा है ।

आजाद ने मुझसे इस विषय में चुन्नीगंज के मकान में कई बार परामर्श किया । मैंने अपनी समझ से विचार प्रकट किया कि खुफिया पुलिस के इंस्पेक्टर से सौहार्द्य होना भी सन्देह का कारण हो सकता है परन्तु कैलाशपति की गिरफ्तारी के बाद भी वीरभद्र फरार होने की आवश्यकता नहीं समझता, यही बात खास सन्देह का कारण है ।

मेरा भी अनुमान था कि वीरभद्र ऐसी कोई घटना होने नहीं देना चाहता था जिससे उस पर आंच आने का डर हो । मेरा विश्वास था कि वीरभद्र तिवारी बहुत गहरी समझ-बूझ और शरीर खूब लम्ब-तड़ंग होने के बावजूद स्वभाव से कायर था । मैंने भैया को जनवरी १९३० की केन्द्रीय समिति में तिवारी और कैलाशपति का दिया सुझाव याद दिलाया कि प्रान्तीय संगठनकर्त्ताओं को सशस्त्र कार्यों में भाग लेने से रोक दिया जाये । मेरा विचार था कि भीरु आदमी प्राण बचाने की तिकड़म में कुछ भी कर सकता है । मेरी बात से वीरभद्र के प्रति आजाद का संदेह बढ़ा ही होगा । इन दिनों कोई केन्द्रीय समिति नहीं थी । हम लोगों में से जो आजाद के समीप रहता वे उसी से सलाह-परामर्श कर लेते थे । दिसम्बर, जनवरी में इलाहाबाद में सुरेन्द्र पांडे और भवानीसिंह भी आ मिले थे । तब प्रायः ही आपस में सैद्धान्तिक बातचीत होती रहती थी ।

आजाद ने तय कर लिया कि वीरभद्र तिवारी को गोली मार देनी होगी । उन्होंने मुझ से कहा कि वीरभद्र बहुत ही धूर्त और तेज आदमी है । इस अवसर पर तुम मेरे साथ रहना । मैं तैयार हो गया । यह ख़याल मुझे जरूर आया कि वीरभद्र ने बहुत आड़े समय मेरी सहायता की है और मुझ पर उसका एहसान है । लेकिन दल के साथ वीरभद्र के उचित व्यवहार न करने के सन्देह भी मौजूद थे । आजाद उस पर लगाये आरोप उसे बताकर अपना ढंग सुधारने का अवसर भी दे चुके थे । आजाद ने इस बात का प्रबंध कर लिया था कि वीरभद्र को किसी कार्यवश रात में 'मैमोरियल वेल' के समीप घाट पर जाना पड़ेगा और 'मैमोरियल वेल' के पिछवाड़े के एकान्त स्थान

में उससे बात की जायगी। सन्देह की अवस्था में आजाद और मैं उसे घेर कर गोली मार देंगे। कैसे और क्योंकर वीरभद्र रात में उस एकान्त घाट पर चला आयगा, यह सब न मैंने पूछा, न मुझे आजाद ने बताया ही। दो बार तो आजाद मुझे लेकर अंधेरे में उस स्थान के चक्कर घंटे-घंटे भर काटते रहे। तीसरी बार मैं चुन्नीगंज में सो रहा था। रात ग्यारह बजे आजाद ने आकर उठाया—"सोहन जल्दी चलो! चूक न जायें! वह आ रहा है।"

मैं तुरन्त उठा। तकिये के नीचे से पिस्तौल लेकर जेब में डाल लिया और बाइसिकल पर आजाद के साथ चल दिया। इस बार भी अंधेरे और सर्दी में लगभग पैंतालीस मिनिट तक चक्कर लगाते रहने पर भी वीरभद्र नहीं आया। हम लौटने ही को थे कि अंधेरे में सफेद धोती, ब्लाउज और काले रंग की गरम वास्कट पहने एक दुबली-सी लगभग उन्नीस-बीस वर्ष की लड़की आती दिखायी दी। आजाद उसकी ओर बढ़ गये। मेरा उस लड़की से परिचय न था, न आजाद ने मुझे साथ आने के लिये कहा इसलिये मैं कुछ कदम दूर ही खड़ा रहा। लड़की की बात समझ न आने पर भी उसका बोल सुनाई दे रहा था। वह घबरायी हुई जान पड़ रही थी। यह भी मैं भांप रहा था कि वह वीरभद्र के वहां न आने का कारण बता रही है।

आजाद निराशा की सी सांस लेते हुए मेरे पास आकर बोले—"हर बार ससुर कोई न कोई झगड़ा हो जाता है।"

आखिर मैंने पूछ ही लिया—"कुछ बताओ तो सही कि क्या योजना थी? कैसे विश्वास था कि वह आ जायगा?" और कहा कि मैं यह इसलिये पूछ रहा हूं कि मेरे अनुमान में यह लड़की तुम से झूठ बोल रही थी।

"कैसे?" भैया ने पूछा।

मैंने उत्तर दिया—"उसके ढंग और घबराहट से मुझे सन्देह है कि वह बात बना रही थी, पर बना नहीं पा रही थी।"

तब भैया ने उस लड़की का परिचय दिया और बताया कि इस लड़की ने उन्हें विश्वास दिलाया था कि वह रात में सरसैया घाट पर विशेष पूजा करने का बहाना करेगी और वीरभद्र को संरक्षकता या साथ के लिये लेती आयेगी। अब बता रही है कि वीरभद्र ने संदेश भेज दिया है कि उसे एक जरूरी काम पड़ गया है।

मैंने भैया से कहा कि मुझे इस लड़की के ढंग पर सन्देह है। इसकी वीरभद्र से ऐसी क्या आत्मीयता है कि उसे रात में ऐसी जगह ला सके? वीरभद्र का इतना विश्वास इसने कैसे पाया है? क्या उसे धोखा देने के लिये ही उससे इतना गहरा सम्बन्ध इसने जोड़ा है? यदि वास्तव में इसकी वीरभद्र से इतनी आत्मीयता है तो

उसे बचाने के लिये तुम्हें ही धोखा दे रही हो ? किसी को साथ लाकर गोली मरवा देने में कुछ न कुछ खतरा है ही। इसका ढंग ऐसा नहीं जान पड़ता कि इस काम को अपना कर्तव्य समझ रही हो। इस बंगाली लड़की के सम्बन्ध में काफी दिन बाद मुझे दूसरे साथियों से पता चला कि वह प्रायः ही दुतरफा चाल चला करती थी। उसकी प्रवृत्ति और परिस्थितियां भी ऐसी थीं कि एक जगह जमकर बैठना उसके लिये सुविधाजनक न हो सका। उस समय मैं उसके सम्बन्ध में इतना ही जानता था। इस लड़की का उपनाम खोकी था। बाद में पता लगा कि उस उम्र की छोटी-मोटी उच्छृङ्खलता के बावजूद खोकी को सशस्त्र क्रान्ति के काम के प्रति बहुत लगन थी। वह उत्तर प्रदेश छोड़कर बंगाल चली गयी थी और वहां किसी जेल में ही उसकी मृत्यु हो गयी।

उन्हीं दिनों एक दोपहर मैं मेस्टन रोड के फुटपाथ पर चला जा रहा था। भीड़ काफी थी। सहसा वीरभद्र से सामना हो गया। उसने मुझे खूब पहचाना परन्तु पहचानने का कोई संकेत प्रकट नहीं किया। वैसा ही मैंने भी किया। मेरी कमर में उस समय भी पिस्तौल था। वीरभद्र के पास था या नहीं, कह नहीं सकता। सम्भवतः नहीं ही होगा। पिस्तौल का रखना ही खतरे का कारण था। बिना निश्चित आवश्यकता के या केवल शौकिया ही खतरा सिर लेना वीरभद्र की प्रकृति नहीं थी। उस समय यह सब मैंने नहीं सोचा परन्तु उतनी भीड़ में और श्रद्धानन्द पार्क बगल में होने के कारण, जहां आस-पास उसके काफी परिचित थे, उस पर गोली चला देने की बात मेरे मन में आयी भी नहीं। बाद में सोचने पर समझा कि वह स्थान और परिस्थितियां वीरभद्र के तो अनुकूल थीं। उसे गोली मार देने का जिस भोंड़े ढंग से आयोजन भैया ने किया था और बार-बार बुलाने पर उसका कतरा जाना, इन सब बातों से मेरे विचार में वह भैया की भावना जान चुका था। जब कोई आदमी मुखबिर बन जाता था तो उसका विरोध या शत्रुता, दल के खास व्यक्तियों से नहीं, पूरे दल से हो जाती थी। ऐसा कोई कारण नहीं था कि वीरभद्र मुझे तो तरह दे जाता और आजाद को पकड़वा देता। बल्कि मेरे प्रति उसे कृतघ्नता की शिकायत कहीं अधिक होनी चाहिये थी। उसका व्यवहार समस्या बन गया। इसके बाद हम लोगों ने कानपुर में वीरभद्र को गोली मार देने का कोई प्रयत्न नहीं किया। यह भी बात थी कि इसके बाद मैं और भैया इलाहाबाद चले गये थे।

उस समय भैया के कहने से वीरभद्र को गोली मार देने में मुझे कोई नैतिक या भावात्मक आपत्ति नहीं जान पड़ी थी। काफी बाद में अर्थात् जेल में पुरानी बातों पर विचार करते समय या अब जब कभी वे बातें याद आ जाती हैं तो उस प्रयत्न

को दूसरे ही रूप में देखता हूं। सन् १९४७ में भारत का शासन कांग्रेसी सरकार के हाथ आ जाने के बाद की बात है। एक सन्ध्या हम लोग भुवाली में डाक्टर प्रेमलाल साह के एक अंगरेज मित्र के यहां चाय पी रहे थे। बेतकुल्लफी से बातें हो रही थीं। डाक्टर साह ने मेरा परिचय हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक के रूप में कराया था। अंग्रेज पति, पत्नी और उनकी अंग्रेज मेहमान को मेरी बातें भी दिलचस्प लग रही थीं। बात गांधीवाद पर हो रही थी। अंग्रेज मेहमान महिला का विचार था कि गांधीवाद संसार को भारत की बड़ी भारी देन है। मैं उनकी बात पर मजाक कर रहा था और वे हैरान हो रही थीं। वास्तव में वे गांधीवाद को कुछ भी समझती नहीं थी। डाक्टर साह ने अचानक कह दिया, गांधीवाद को समझना हो तो इस आदमी से ही बात करो। इसने 'गांधीवाद की शव परीक्षा' पुस्तक लिखी है।

अंग्रेज महिला आंखें फाड़-फाड़ कर मेरी ओर देखने लगीं। उन्हें विस्मय हो रहा था कि भारत में ऐसे भी लोग हैं जो गांधीवाद की आलोचना कर सकते हैं। डाक्टर साह को मजाक सूझा। उन्होंने कहा—"यह वह आदमी है जिस ने १९२९ में वायसराय की ट्रेन के नीचे बम विस्फोट किया था।"

दोनों अंग्रेज महिलाओं और सज्जन ने भी मुझे सिर से पांव तक विस्मय से देखा; मानों निश्चय कर लेना चाहते हों कि भूत नहीं आदमी ही सामने बैठा है। बातचीत गम्भीर हो गयी। अंग्रेज महिला कुछ करुण स्वर में बोलीं—"ख़ैर, बीत गयी सो बात गयी। अब तो कोई शत्रुता बाकी नहीं। मैं पूछना चाहती हूं कि ऐसा काम करने के बाद तुम्हें कभी परिताप या आत्मग्लानि अनुभव नहीं हुई ?"

प्रश्न करने वाली महिला के पति दूसरे महायुद्ध में ब्रिटिश सेना में मेजर थे। मैंने प्रति प्रश्न किया—"सम्भव है आप के पति के हाथों या उन के निर्देश में शत्रु पक्ष के कई लोगों की जानें गयी हों। कम से कम ऐसा प्रयत्न तो उन्होंने किया ही होगा। इस विचार से उन्हें कभी परिताप या आत्मग्लानि अनुभव हुई या नहीं ? कभी आप ने अपने पति से ऐसी जिज्ञासा की है ?"

महिला को अपने पति से ऐसी जिज्ञासा का कोई तुक या कारण ही नहीं जान पड़ा। क्योंकि पति अपनी जान जोखिम में डाल कर अपना कर्तव्य पूरा कर रहे थे।

मैंने यही बात अपनी ओर से दोहरायी—"आप के पति तो तनख्वाह लेकर कर्त्तव्य पूरा कर रहे थे। मैं तनख्वाह की भी आशा न कर, कहीं अधिक जोखिम झेल कर अपना कर्त्तव्य पूरा कर रहा था। वर्ना वायसराय बेचारे से मुझे क्या लेना देना था। आज यदि मैं उसे जाड़े में ठिठुरता पाऊं तो सम्भव है अपना कोट उतार कर दे दूं।··· वायसराय से सम्बद्ध घटना के लिये अथवा दूसरी घटनाओं में जब मैंने अंग्रेज सरकार

के प्रतिनिधियों को अपनी गोली की चोट से गिरते देखा, मुझे कभी कोई परिताप या ग्लानि आज तक अनुभव नहीं हुई। परन्तु जेल में या अब भी कभी वीरभद्र पर गोली चला देने के प्रयत्न की बात याद आने पर मानना पड़ता है कि यह उचित न होता। मेरे विचार में वीरभद्र के धोखे का रूप केवल यह था कि वह मुसीबत से बचे रहने के लिये घटना न होने देने का बहाने बना देता होगा। अपने किसी आदमी को उस ने गिरफ्तार करा दिया हो, ऐसा कोई प्रमाण कभी नहीं मिला। यदि वह हम लोगों से साफ कह देता कि वह जान जोखिम में न डाल कर केवल संगठन और परामर्श द्वारा ही सहायता करेगा तो अधिक अच्छा रहता। अन्तिम दिनों में सुरेन्द्र पांडे ने स्पष्ट ही ऐसा कह दिया था तो उस के प्रति हमें कोई संदेह नहीं हुआ। उसे जबरदस्ती जोखिम में खींचना भी आवश्यक न जान पड़ा। वीरभद्र के सम्बन्ध में यह मेरे अनुमान ही हैं।

आजाद चुन्नीगंज वाले मकान में आते रहते थे। कभी रात भी वहां ठहर जाते। अगर किसी दिन अरहर की दाल विशेष तौर पर खाने की इच्छा होती तो प्रकाशवती को दाल चढ़ा देने के लिये कह कर दाल पक जाने की प्रतीक्षा में बैठे रहते। ऐसा प्रायः कभी ही होता था कि आजाद चुप बैठे रहें। पास बैठे होंगे तो बात करते ही रहेंगे। आजाद का शरीर मोटा कह सकने लायक दोहरा और खूब गठा हुआ था। कसरत का शौक भी था परन्तु फरारी के अनियमित जीवन में नियम से कसरत हो नहीं सकती थी। अगर सप्ताह भर से अधिक कहीं रहना हो जाता तो उन्हें सुबह कुछ दण्ड-सपाटे लगा लेने की बात याद आ जा जाती पर आजाद को मोटा कहे जाने से बड़ी चिढ़ थी। यों हम लोग उन्हें पीठ पीछे मोटा कह कर ही बात करते थे। प्रकाशवती प्रायः मोटे भैया ही कहती थीं।

चुन्नीगंज के उस मकान में आजाद प्रकाशवती को एक तकिये पर निशाना बना कर एयर पिस्टल से निशाना मारने का अभ्यास कराया करते थे। तकिये पर इसलिये कि पिस्तौल का छर्रा खराब न हो और कई उपयोग में आ सके। वे प्रकाशवती के अंग्रेजी पढ़ने पर भी जोर देते रहते थे। फरारी के समय चुन्नीगंज के मकान में शुरू हुआ अंग्रेजी पढ़ना जारी रहा और बहुत काम आया। १९३४ में गिरफ्तार होकर छूटने के बाद प्रकाशवती के लिये मैट्रिक की परीक्षा के लिये बनारस के एक कालिज में भरती हो जाना सम्भव हो सका। चुन्नीगंज के मकान में एक दिन आजाद के सामने ही प्रकाशवती के मुंह से निकल गया—"मोटे भैया कभी ये कहते हैं, कभी वह कहते हैं।"

आजाद ने बहुत गुस्सा दिखाया—"अच्छा री टुइय्यां, हमें मोटा कहती है! सब

तेरी ही तरह हो जायें !" और उस की पीठ पर दो-चार घूंसे जड़ दिये । प्रकाशवती उन दिनों बहुत दुबली-पतली थीं । वजन मन भर से अधिक न होगा । प्रकाशवती को कसरत करने का हुक्म हो गया । इस के बाद आजाद का एक जरूरी प्रश्न यह भी हो गया—"टुइय्यां कसरत करती हो या नहीं ?"

चौधरी रामधनसिंह से मैंने आजाद का परिचय करा दिया था । यह जान कर कि चौधरी रामधनसिंह दल की ओर से मर्दान में रह आये हैं, उस इलाके के एक-दो प्रभावशाली खानों से भी उन का परिचय है और गुजारे लायक पश्तो भी बोल लेते हैं, आजाद को बहुत उत्साह हुआ । हम लोगों ने चौधरी को उन के चमड़े के काम के स्कूल से कुछ दिन की छुट्टी लेकर, मर्दान यह पता लेने के लिये भेजा कि सीमान्त के पार से शस्त्र खरीदने की और किसी आदमी को अफगानिस्तान की राह विदेश, खास कर रूस भेजना हो तो क्या सम्भावना हो सकती है । पिछले सितम्बर के आपसी झगड़े के बाद से मेरे मन में निरंतर यह इच्छा थी कि विदेश या रूस जा सकूं । वहां अनुभव प्राप्त करके सम्भव हो तो ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध विदेश से सहायता लेकर अधिक व्यापक रूप में काम किया जाये । यह बात आजाद को भी जंच रही थी ।

चौधरी मर्दान में प्रायः सप्ताह भर रह कर लौटे । उन्होंने आकर बताया कि सीमान्त पार से शस्त्र खरीदने की योजना ठीक नहीं रहेगी । इस में दो कठिनाइयां थीं । एक तो यह कि उस इलाके के पठान यह जानते थे कि भारत में शस्त्र रखना गैरकानूनी है । इसलिये चोरी से शस्त्र बेचते समय बेहिसाब मूल्य मांगते थे । दूसरे यह कि इलाके में जगह-जगह शस्त्रों के छोटे-छोटे कारखाने खुल गये थे । यहां बने शस्त्र देखने में बिलकुल जर्मन और अंग्रेजी रिवाल्वर, पिस्तौल जैसे ही जान पड़ते । इन का दाम अधिक वसूल कर सकने के लिये इन पर 'मेड इन जर्मनी' और 'मेड इन इंगलैंड' के ठप्पे भी लगा दिये जाते थे । लेकिन निशाना इन हथियारों का उतना सच्चा न होता था और समय पर धोखा दे जाते थे । काबुल की राह विदेश जाने के सम्बन्ध में उन्होंने पूरी सुविधा का आश्वासन दिलाया । तय हो गया कि मैं दो, तीन मास में उस रास्ते रूस की ओर चला जाऊंगा ।

चौधरी रामधनसिंह के अतिरिक्त १६३० अगस्त में ही धन्वन्तरी हमारे एक पुराने साथी रामकृष्ण को इस प्रयोजन से सरहद्द पार भेज चुका था । रामकृष्ण भी नेशनल कालिज में हमारा सहपाठी था । मैं सिंहावलोकन के पहले भाग (पृष्ठ ८६) में जिक्र कर चुका हूं कि कालिज के प्रथम वर्ष में हम दोनों काफी मेहनती और मेधावी समझे जाते थे । कालिज की शिक्षा समाप्त कर रामकृष्ण ने लाहौर में मोहनलाल रोड पर शुद्ध घी की दुकान खोल ली थी । रामकृष्ण बेमतलब बात बहुत कम करता था । एक

उपयोगी और महत्वपूर्ण काम बतलाया जाने पर दुकान को लपेट-समेट कर वह सरहद पार जा बसा और कुछ ही दिनों में उस ने पश्तो भाषा सीख कर अंग्रेजशाही के विरोध के सांझे उद्देश्य में इप्पी के फकीर तक से सम्बन्ध जोड़ लिया। वहां बीमार हो जाने पर और उचित चिकित्सा न हो सकने के कारण उस की मृत्यु हो गयी। उस के प्रयत्न का कोई विशेष परिणाम सामने नहीं आ सका इसलिये उस के प्रयत्न को चाहे महत्व न दिया जाये परन्तु इस से हमारे दल के व्यापक दृष्टिकोण और रामकृष्ण के साहस और चातुर्य का संकेत तो मिलता ही है अर्थात् हमारे प्रयत्न केवल व्यक्तिगत आतंकवाद में सीमित नहीं थे। हमारा दृष्टिकोण व्यापक और साम्राज्यवाद विरोधी था।

पंजाब गर्वनर पर गोली

१९३० दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में लाहौर में यूनिवर्सिटी के कन्वोकेशन के समय गवर्नर पर गोली चलाये जाने के समाचार से भी हमें बहुत उत्साह हुआ था। यह काम भी हि० स० प्र० स० के प्रभाव के अन्तर्गत ही हुआ था। पंजाब में झगड़ा बढ़ जाने के बाद से इन्द्रपाल तो असंतुष्ट होकर आतिशीचक्कर का उप-संगठन बना बैठा था परन्तु कुछ लोग धन्वन्तरी, सुखदेवराज के साथ रहे। इन लोगों में देवराज, दुर्गादास खन्ना, रणवीर और केवलकृष्ण आदि मुख्य थे। धन्वन्तरी के भी दिल्ली में गिरफ्तार हो जाने से और सुखदेवराज के यू० पी० में चले जाने से यही लोग सशस्त्र विद्रोह की भावना को पंजाब में सचेत बनाये रखने का यत्न कर रहे थे। दुर्गादास खन्ना और रणवीर ने लाहौर षडयंत्र के मुकदमे में दी गयी सजाओं के विरोध में पंजाब के गवर्नर पर गोली चलाने की योजना बनायी थी।

गवर्नर पर गोली चलाने के लिये इन लोगों ने अपने बीच में से किसी को नहीं चुना। इस के लिये मर्दान से एक साहसी नवयुवक हरीकृष्ण को बुला लिया गया। क्रान्तिकारी भावना और विचारों से हरीकृष्ण का पहले कोई परिचय न होने या उन से कोई सैद्धान्तिक लगाव न होने पर भी देशभक्ति के भाव से वह जान की बाजी लगा कर राष्ट्र के शत्रु पर वार करने के लिये तैयार हो गया। कन्वोकेशन के अवसर पर यूनीवर्सिटी हाल में प्रवेश के लिये प्रवेश-पत्र लाकर उसे दे दिया गया। दुर्गादास और रणवीर स्वयं हाल में नहीं गये।

कन्वोकेशन की परिपाटी पूरी करके जिस समय गवर्नर जुलूस के रूप में हाल के भीतर से जा रहे थे, हरीकृष्ण ने उन पर गोली चला दी। निशाना ठीक नहीं बैठा। गवर्नर और उनके अंगरक्षक फौजी अफसर भाग कर तितर-बितर हो गये। हरीकृष्ण ने बराम्दे में भाग आये गवर्नर का पीछा किया। दुबारा गोली चलाते समय एक राज-

भक्त सब-इन्स्पेक्टर चरणसिंह हरीकृष्ण को पकड़ने के लिये बीच में आ गया और मारा गया। हरीकृष्ण भी घेर लिया गया।

इस सम्बन्ध में पहली गिरफ्तारी २४ दिसम्बर को मर्दान में चमनलाल की हुई। हरीकृष्ण का परिचय दुर्गादास आदि से चमनलाल ने ही कराया था। इसका अर्थ है कि लाहौर से २३ दिसम्बर को ही पुलिस मर्दान के लिये रवाना हो गयी अर्थात् हरीकृष्ण ने बहादुरी करने के बाद भेद खोलने में भी देर नहीं लगायी। सप्ताह भर के भीतर दसौन्दासिंह, रणवीर और दुर्गादास भी गिरफ्तार हो गये। दसौन्दासिंह सरकारी गवाह बन गया। दुर्गादास खन्ना एडवोकेट ने इस घटना के अपने संस्मरण में लिखा है कि घटना से पहले उन्होंने लाहौर जेल में भगतसिंह को एक गुप्त पत्र लिख कर राय ली थी। भगतसिंह ने उत्तर दिया था—"मैं इस काम के लिये तुम्हें अपनी नैतिक अनुमति तो नहीं दे सकता। 'हिम्मत' है तो करो।" भगतसिंह का जवाब बिलकुल ठीक ही था। वह यदि कहता कि 'उचित' समझो तो करो तो बात भिन्न होती परन्तु उसने 'हिम्मत' शब्द प्रयोग किया। स्पष्ट अर्थ था कि काम करने के बाद निबाह भी पाओगे? कारण यही कि नौसिखिया आदमी दल के हित में क्रान्तिकारी भावना के अनुकूल व्यवहार कर पायेगा, इस बात में उसे सन्देह था।

अंग्रेज सरकार ने हरीकृष्ण को तुरन्त फांसी पर लटका कर सशस्त्र राजद्रोह के दण्ड का उदाहरण जनता को दिखा देने में बहुत व्यग्रता दिखायी। उस पर षड़यन्त्र का लम्बा मुकद्दमा न चला कर केवल हत्या का मुकद्दमा चलाया गया और उसे फांसी पर लटका दिया गया। दुर्गादास, रणवीर पर षड़यन्त्र का पृथक मुकद्दमा बाद में चला। सेशन जज ने उन्हें भी फांसी की सजा दी थी परन्तु रणवीर और दुर्गादास दोनों के ही परिवार लाहौर में बहुत प्रभावशाली थे। उन्हें सभी वकीलों का सहयोग प्राप्त था। हाईकोर्ट में वे लोग बरी हो गये। ऐसी घटनाएं इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि हि० स० प्र० स० के प्रयत्नों से सशस्त्र क्रान्ति और विदेशी शासन के प्रति विद्रोह का वातावरण और भावना तो फैल गयी थी परन्तु गांधी जी और कांग्रेस के निरन्तर विरोध के कारण वह संगठित रूप और जनता का प्रकट समर्थन नहीं पा सकती थी।

इन्द्रपाल

इन दिनों हमारे दिमाग में सबसे अधिक परेशानी अपने दल के मुखबिर बन जाने वाले लोगों के कारण थी। कैलाशपति की बात तो कह ही चुका हूं। मुझे व्यक्तिगत रूप में सब से अधिक वेदना हुई थी—दूसरे लाहौर षड़यंत्र के मुकद्दमे में इन्द्रपाल के भी मुखबिर बन जाने के समाचार से। इस समाचार से आजाद को भी कम धक्का

नहीं लगा था। दिल्ली के समीप इन्द्रपाल के साधु बन कर वास्तविक तपस्या करने के तथा बहावलपुर रोड के मामले में उसके साहस की सभी बातें आजाद जानते थे। इन्द्रपाल के विषय में हम लोग ऐसी अफवाह पर एतबार न करते परन्तु अदालत में उसके सरकारी गवाह के रूप में पेश हो जाने और उसके बयानों को पत्रों में छपा देखकर कैसे इंकार कर देते। कुछ बातें ऐसी थीं कि इन्द्रपाल के अतिरिक्त कोई दूसरा कह ही नहीं सकता था। आजाद प्राय: ही मानसिक संताप से कहते—"सोहन अब किसी का एतबार नहीं किया जा सकता। एतबार उसी का जो गिरफ्तार होने के बजाय अपने सिर में गोली मार ले!"

१९३१ जनवरी के पहले या दूसरे सप्ताह में समाचार पत्रों में मोटे अक्षरों में छपा कि दूसरे लाहौर षडयंत्र के मामले का सरकारी गवाह इन्द्रपाल पलट गया। उसने अदालत में कह दिया कि पुलिस उसे परेशान करके झूठे बयान दिला रही है। उसने अदालत में वे कागज भी पेश कर दिये जो पुलिस ने उसे अदालत में बयान देने के लिये लिख कर दिये थे। हम लोग प्रसन्नता से उछल पड़े। भैया ने कहा—"ये साला सधवा (साधू) जरूर कोई ऐसी हरकत करेगा जो किसी ने न की हो।"

इन्द्रपाल सरकारी गवाह बना और फिर पलट गया, इतना कह देने से बात स्पष्ट नहीं हो जाती। दूसरे भाग में कह चुका हूं कि मेरे, धन्वन्तरी और सुखदेवराज आदि के झगड़े से इन्द्रपाल और उसके द्वारा दल से सम्बन्ध रखने वाले लोग खिन्न हो गये थे। वे अपनी समझ से अलग ही काम करने लगे थे। इन्द्रपाल जानता था कि उसे दल की ओर से संगठन करने या कुछ करने का अधिकार नहीं है। इसलिये उसने अपने कामों का उत्तरदायित्व दल पर न आने देने के लिये अपने इस संगठन का नाम अतिशीघ्रचक्र रख लिया था। इस संगठन द्वारा पंजाब में कई जगह बम विस्फोट के परिणामस्वरूप जब गिरफ्तारियां आरम्भ हुईं तो लायलपुर में इस दल के प्रभाव में काम करने वाले पुलिस के दो सिपाही मलिक कुन्दनलाल, बंसीलाल और दूसरे साथी भी सप्ताह-दो सप्ताह में ही गिरफ्तार हो गये। मेरा छोटा भाई धर्मपाल भी इन लोगों में था। वह बचने के लिये भाग कर जालन्धर जाकर दसवीं श्रेणी में भरती होकर बोर्डिंग में रहने लगा था। वह भी गिरफ्तार कर लिया गया।

हम लोग और हम से पहले के अनुभवी साथी दल के लोगों को काफी समय तक पकाते-सधाते रहते थे, सब प्रकार के कष्ट सहने के लिये चेतावनी देते रहते थे। वैसी शिक्षा-दीक्षा इन लोगों की नहीं थी। परिणाम में सबसे पहिले मलिक कुन्दनलाल और बंसीलाल ने भेद खोला और जब पुलिस ने उनसे पायी सूचना के आधार पर दूसरों

को मार-पीट कर पूछ-ताछ करनी शुरू की तो काफी साथी बकने लगे और अपनी कारगुजारियां कबूल कर बैठे। नाम यहां लेने की जरूरत नहीं क्योंकि उनमें से कई कांग्रेसी राज में बहुत सम्मानित कार्यकर्ता बन गये हैं। वह उनकी क्षणिक कमजोरी थी या इसका कारण उनका क्रान्तिकारी भावना में ठीक से पग न पाना था। इन्हें मारा-पीटा भी खूब गया था।

सुना कि लायलपुर के धर्मवीर के दोनों हाथ खाट के पांवों के नीचे रख कर कई-कई सिपाही खाट पर बैठ जाते। उसने चीखने-चिल्लाने के बावजूद भेद नहीं खोला। उसे कम्बल में लपेट कर उसकी अन्धाधुन्ध पिटायी भी की गयी। पर वह बका नहीं। मेरे छोटे भाई धर्मपाल को दीवार में लगे कड़े में हथकड़ी बांध कर पांच दिन और रात खड़ा रखा गया। दिन-रात में केवल खाने और दिशा-फरागत के लिये दस-पन्द्रह मिनट के लिये खोल दिया जाता था। वह यही कहता रहा कि मुझे कुछ मालूम नहीं। जब उसकी पिंडलियां जांघों की तरह सूज गयीं, उसने भूख हड़ताल कर दी। वह बेहोश हो गया तब उसे लिटा कर सिपाहियों ने पांव से लताड़ना और गरम तेल की मालिश आदि करना शुरू किया। शायद इसलिये कि सुध आ जाये तो फिर वही यातना देकर बकने के लिये विवश किया जाये। यदि धर्मपाल ने हथकड़ी से पहले दिन टांगे जाते ही भूख हड़ताल कर दी होती तो छः दिन न टंगना पड़ता। ऐसी यातनायें प्रायः इन सभी लोगों को दी गयीं। उनकी मूंछों के बाल नोचे जाते और गुड़ के डले पर बहुत से चींटे इकट्ठे कर उनके पायजामे के पहुंचे नीचे से बांध कर गुड़ के डले को पायजामे में डाल दिया जाता। हाथ दीवार में गड़े खूंटे या कड़े से बंधे रहते थे। ऐसी यन्त्रणायें पहले लाहौर षड़यन्त्र के अभियुक्तों को या बाद में मुझे भी नहीं दी गयीं। पुलिस ने इन लोगों के साथ ऐसा दुर्व्यवहार करने का साहस इसीलिये किया कि वह इन्हें नौसिखिया समझ गयी थी। अस्तु—

एक दिन धर्मपाल को दफ्तर में पूछ-ताछ के बाद दोपहर के भोजन के लिये उसकी कोठरी में लाया गया। इन अभियुक्तों को खाना देने की ड्यूटी हवल्दार पंडित फकीरचन्द की थी। फकीरचन्द धर्मपाल के लिये खाना लेकर आया तो धर्मपाल पर ड्यूटी देने वाले सिपाही अब्दुल सत्तार ने धर्मपाल की हथकड़ी फकीरचन्द को थमा दी और स्वयं संडास की ओर चला गया। फकीरचन्द कांगड़े का था। उसने पहाड़ी बोली में धर्मपाल से कहा—"पांदा (पंडित) तुमसे बात करने के लिये बुला रहा है।" इन अभियुक्तों को आपस में बात करने का अवसर नहीं दिया जाता था। धर्मपाल को सन्देह हुआ कि यह आदमी कांगड़े का है तो क्या हुआ, कहीं फांसने की चाल तो नहीं कर रहा परन्तु फकीरचन्द ने सचमुच धर्मपाल को कोठरी से ले जाकर पीछे इन्द्रपाल

की कोठरी के सामने खड़ा कर दिया ।

इन्द्रपाल ने बताया—"इस समय तक हमारे पांच साथी जो कुछ जानते थे, पुलिस को बता चुके हैं और प्राणभिक्षा के वचन पर सरकारी गवाह बनने के लिये तैयार हैं। यह लोग कम से कम सत्रह साथियों को फांसी पर लटकवा देंगे। अब्दुल अजीज (इस मुकदमे का इन्चार्ज पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट) मुझे गवाह बनाने के लिये फुसला रहा है क्योंकि और कोई गवाह अलग-अलग घटनाओं को जोड़ नहीं सकता और न इस मुकदमे का सम्बन्ध फरार आजाद और यशपाल की मार्फत पहले मुकदमे और दिल्ली षड़यन्त्र से जोड़ सकता है। इस तरह षड़यन्त्र नहीं बन पाता। मैं सोचता हूं, मैं सरकारी गवाह बनकर सब जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लूं और सबको बचाने की कोशिश करूं। तुम्हारी क्या राय है ?"

धर्मपाल ने उत्तर दिया—"सरकारी गवाह बनने की बात तो मैं किसी भी मोल पर नहीं मान सकता। तुम्हें अपने ऊपर इतना भरोसा है तो सोच लो।"

"तुम्हें क्या मुझ पर भरोसा नहीं है ?" इन्द्रपाल ने पूछा।

धर्मपाल ने कहा—"अब तक तो भरोसा ही रहा है। तुम्हारी नीयत पर अब भी भरोसा कर सकता हूं पर बात टेढ़ी है।"

इन्द्रपाल ने उत्तर दिया—"अच्छा, मैं सोचूंगा।"

तीन-चार दिन बाद फकीरचंद ने धर्मपाल को रोटियां देते हुये पहाड़ी बोली में कहा—"सम्भल कर; रोटियों में पंडित का संदेशा है।" तन्दूर की रोटियों में बीड़ी बंडल के कागज पर इन्द्रपाल का संदेश था कि वह सरकारी गवाह बन गया है।

डेढ़ मास तक इन्द्रपाल की और पुलिस की गहरी छनती रही। मुकदमा अदालत में पेश हुआ। साठ या सत्तर गवाह भुगत चुके थे। इन्द्रपाल की बारी आयी। इन्द्रपाल सात दिन तक बयान देता रहा। बयान अखबारों में छपते थे। राई-रत्ती ठीक। हम लोग पढ़ते थे और सिर पीट लेते थे, इसे हो क्या गया! इन बयानों में भगवती भाई, आजाद और यशपाल की वे सब करनियां खूब खोल-खोल कर बखानी गयी थीं जिन के कारण कोई भी सजा कम होती। भगवती भाई तो शहीद हो चुके थे। आजाद और यशपाल अभी फरार ही थे। इन्द्रपाल के बयानों में इतना ब्योरा और गहराई होते हुये भी इन के कारण कोई नई गिरफ्तारी न हुई थी। अब बयान का वह भाग आया जिस में जेलों में बन्द साथी फंसते थे।

नियम के अनुसार इन्द्रपाल को नित्य बयान देने से पहले धर्म की कसम दिलाई जाती थी कि केवल सच ही बोलेगा, झूठ नहीं बोलेगा। आठवें दिन इन्द्रपाल ने अदालत में शपथ [illegible]। कारण पूछने पर उत्तर दिया—"साहब, धर्म की

कसम खाकर झूठ नहीं बोलूंगा। यह जन्म तो पुलिस ने बिगाड़ ही दिया, अब परलोक नहीं बिगाड़ सकता। वहां तो पुलिस साथ जायगी नहीं। शपथ खाने के बाद तो एक ही बात कह सकता हूं कि पुलिस मुझ से झूठा बयान दिला रही है। शपथ न दिलवाइये तो जो पुलिस ने रटाया-पढ़ाया है, सब सुना सकता हूं।"

सरकारी वकील ज्वालाप्रसाद ने आपत्ति की—"गवाह बेईमान हो गया है और पुलिस पर झूठी तोहमत लगा रहा है।" अदालत ने इन्द्रपाल से इस बात का प्रमाण मांगा कि पुलिस उसे बयान पढ़ा रही है। इन्द्रपाल ने अपने कपड़ों में छिपाये पुलिस के लोगों के हाथ के लिखे कागज निकाल कर दिखा दिये और कहा अदालत और सफाई के वकील मेरे साथ किले में हवालात की कोठरी में चलें तो वहां रखे हुये और कागज भी दिखा सकता हूं। उस ने वही किया भी और बहुत से अकाट्य प्रमाण पुलिस द्वारा झूठा बयान बनाने के दिये। इन्द्रपाल ने अदालत से मांग की कि आइन्दा मैं सच्चा बयान केवल इसी शर्त पर दे सकता हूं कि मुझे किले में पुलिस के कब्जे से हटा कर जेल की हवालात में भेज दिया जाये और मुझे विश्वास हो कि सच्चा बयान देने के कारण मुझ पर अत्याचार नहीं किया जायगा। उस पर सरकारी वकीलों ने दोनों बयानों की लिखी हुई कापियां लेकर जिरह की पर वे उसे कहीं एक भी बात या तारीख के बारे में उखाड़ नहीं पाये। केवल एक अवसर पर जिरह के उत्तर में उस ने कहा—मुझे याद नहीं। इन्द्रपाल के इस उत्तर से सरकारी वकील वृद्ध रायबहादुर ज्वालाप्रसाद ने बहुत संतोष से कहा—"शुक्र है पंडित जी, एक बार तो आप के मुंह से निकला कि मुझे याद नहीं।"

इन्द्रपाल के उदाहरण से इस मामले का दूसरा गवाह मदनगोपाल भी पलट गया।

संक्षेप में यह कि मुकदमा गिर गया। सरकार ने इन्द्रपाल से बदला लेने के लिये, उस पर सरकार को धोखा देने और अदालत में झूठ बोलने का और उसी के बयान के आधार पर आतिशीचक्कर कांड में हुई हत्याओं के लिये उस अकेले पर मुकदमा चलाया। सेशन से उसे फांसी की सजा दे दी गयी परन्तु षडयंत्र का मुकदमा गिर गया। केवल उन्हीं लोगों को छोटी-छोटी सजायें हो सकीं जिन्होंने मार से हार मान कर या सरकारी गवाह बन जाने की आशा में अपने अपराध मैजिस्ट्रेटों के सामने कबूल लिये थे। सशस्त्र राजद्रोह का मामला न बन सका।

इन्द्रपाल को बचाने के लिये हाईकोर्ट में मुकदमा लड़ा गया। इस में सफाई की ओर से मुख्य वकील थे, रोहतक के स्वर्गीय लाला श्यामलाल जी। श्यामलाल जी असहयोग आन्दोलन में वकालत छोड़ चुके थे। इस मामले के अभियुक्तों की सहायता करने के लिये ही उन्होंने दुबारा वकालत शुरू की। उन्हें अदालत से फीस के रूप में

चौंसठ रुपये रोज मिलते थे। यह रुपया वे अभियुक्तों की आवश्यकताओं के लिये ही खर्च कर देते थे। श्यामलाल जी और सरकारी वकील ज्वालाप्रसाद इन्द्रपाल के साहस और बुद्धि की प्रशंसा करते नहीं थकते थे। बहुत जोर लगाने के बाद इन्द्रपाल की फांसी की सजा, जन्म भर काला पानी की सजा में बदल गयी। जिस समय वाह-वाही और प्रशंसा हो रही हो, साहस से फांसी की ओर बढ़ जाना एक बात होती है परन्तु जब सब ओर से मुखबिर बन जाने के कलंक और थुक्का-फजीहत की वर्षा हो रही हो, अपने प्राण देने का निश्चय कर उद्देश्य पर डटे रहने के लिये और अधिक साहस की आवश्यकता चाहिये।

उपरोक्त मामलों से इन्द्रपाल के मस्तिष्क पर जो जोर पड़ा और फिर उस के साथ पुलिस ने जो दुर्व्यवहार किया, उस के परिणाम स्वरूप उसे जेल में अधरंग (पैरेलसिस) की बीमारी हो गयी। कुछ दिन तो जेल वालों ने समझा कि इस आदमी के पाखंड और धूर्तता की कोई सीमा नहीं। यह बीमारी भी धोखा ही है। उस की परवाह नहीं की गयी। फिर यह देखना आवश्यक समझा गया कि सचमुच बीमारी है तो इलाज क्या किया जाये?

श्यामलाल जी इन्द्रपाल की निष्ठा और साहस से बहुत प्रभावित थे। वे इस सम्बन्ध में गांधी जी से मिले और इन्द्रपाल की प्राण-रक्षा के लिये यत्न करने का अनुरोध किया। गांधी जी ने पंजाब के तत्कालीन मुख्य मन्त्री सर सिकन्दर हयात खां को इस विषय में पत्र लिखा। सरकार के बड़े से बड़े डाक्टरों ने परीक्षा की और परिणाम पर पहुंचे कि बीमारी विकट रूप ले चुकी है, इलाज कोई नहीं हो सकता। किसी भी समय प्राण निकल जा सकते हैं। बीमारी को असाध्य समझ कर इन्द्रपाल को जेल से रिहा कर दिया गया।

लाला श्यामलाल

श्यामलाल जी परम गांधीवादी थे। वह उन चंद लोगों में से थे जिन्होंने १९२१ के असहयोग आन्दोलन में अपनी खूब चलती वकालत छोड़ दी थी और फिर दूसरे वकीलों की तरह आमदनी के लोभ में कचहरी से कभी सहयोग नहीं किया। केवल क्रान्तिकारियों की सहायता के लिये ही उन्होंने दुबारा वकालत की थी। क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आने के बाद वे उनके प्रति गहरी सहानुभूति और अनुराग अनुभव करने लगे थे। इस मुकदमे में एक बार वे विकट परिस्थिति में फंस गये। मामला हाईकोर्ट में पेश था। अभियुक्तों ने कुछ बातों से अपना असन्तोष प्रकट करने के लिये दरखास्त दे दी कि उन्हें इस अदालत पर विश्वास नहीं है। यह काम अदालत की मानहानि

समझा गया। जजों ने इस दरखास्त से खिन्नता प्रकट की। श्यामलाल जी को ऐसी दरखास्त पेश करने के लिये अदालत ने क्षमा मांगने की आज्ञा दी। लाला जी क्षमा मांगने के लिये तैयार न हुये। हाईकोर्ट के जजों ने लाला श्यामलाल पर अदालत की मानहानि का अभियोग चला दिया। इस मामले में सजा की मियाद तब तक हो सकती थी जब तक कि श्यामलाल जी मानहानि करने के लिये क्षमा न मांग लेते।

इस मामले से पंजाब के कानूनी और अदालती संसार में हलचल मच गयी। जिस दिन श्यामलाल जी का यह मामला हाईकोर्ट में पेश हुआ, लाहौर की सभी कचहरियों में काम स्थगित था। सभी वकील हाईकोर्ट पहुंचे। ला कालेज भी बन्द रहा। लाहौर के सभी बड़े वकीलों ने, श्यामलाल जी से इस दरखास्त को नेकनीयती में हो गयी चूक बताकर हाईकोर्ट के सम्मुख खेद प्रकट कर देने का अनुरोध किया पर लाला जी तैयार न हुये। पेशी के लिये हाईकोर्ट जाते समय अपना बिस्तर बांध कर साथ लेते गये कि वहीं से जेल चले जायेंगे। हाईकोर्ट में उन्होंने अपने व्यवहार पर खेद प्रकट करने से इन्कार कर इस बात का आग्रह किया कि उनके मवक्किल नेकनीयत, सच्चे और आत्माभिमानी व्यक्ति हैं और उनकी भावना अदालत के सम्मुख ईमानदारी से रखना उनका कर्तव्य है। परिणाम की आशंका से सभी चिंतित थे। ऐसी अवस्था में हाईकोर्ट ने ही समझदारी से काम लिया। लाला श्यामलाल की नेकनीयत और ईमानदारी पर विश्वास कर, उन्हें भविष्य में सावधान रहने की चेतावनी देकर मामला बरखास्त कर दिया।

जिस समय इन्द्रपाल जेल से छूटा, बैठ भी न सकता था। उसकी टांगें और बांहें टेढ़ी हो गयी थीं। बोल भी न सकता था। जेल जाने से चार-पांच मास पहले उसका विवाह हुआ था। उसकी पत्नी जगदीश्वरी ने उसकी सेवा और इलाज शुरू किया। हकीमों के बतलाये नुसखे खिलाती और दिन-दिन भर मालिश करती रहती। मैं १९३८ में छूट कर १९३९ में प्रेस कर्मचारियों की कान्फ्रेंस के लिये लाहौर गया तो इन्द्रपाल खाट पर लेटे-लेटे बातचीत करने लायक हो गया था। वही पुरानी साहसपूर्ण बेपरवाही। देखते ही चिल्ला उठा—"अरे-अरे, नून-तम्बाकू बेचने वाले का बेटा आ गया! ···अरी जगदीश्वरी, आटा-वाटा कुछ है तो छिपा दे, नहीं तो रोटी खिलानी पड़ जायेगी।"

मेरे अनुरोध से वह और जगदीश्वरी लखनऊ आ गये। बहुत दिन तक बिजली-भाप से इलाज होता रहा। वह कुछ देर तक बैठने और लकड़ी पकड़ लंगड़ा कर चलने भी लगा। मैंने अपनी रिहाई के बाद १९३८ नवम्बर में एक मासिक पत्रिका 'विप्लव' का प्रकाशन आरम्भ किया था। १९३९ अक्तूबर में 'विप्लव' का प्रकाशन

हिन्दी और उर्दू दोनों में हो रहा था। इन्द्रपाल उर्दू में अनुवाद कर किताबत भी करता जाता पर कुछ ही समय काम करने से सिर चकराने लगता था। १९४१ में अंग्रेज सरकार ने विप्लव से बारह हजार की जमानत मांग कर पत्र-प्रकाशन स्थगित करा दिया। इन्द्रपाल लाहौर लौट गया। कुछ और कातिबों को मिलाकर सहयोग से किताबत का काम चलाने लगा। अवस्था काफी सुधर गयी थी। लकड़ी पकड़े धीमे-धीमे मील-डेढ़ मील चल आता था। एक लड़का और लड़की भी हुये। बातचीत से अपने विचारों का प्रचार भी करता ही रहता था। उसने दो छोटे-छोटे पैम्फलेट भी उर्दू में प्रकाशित किये। १९४७ में पंजाब-विभाजन से उसे फिर बहुत भयंकर मानसिक आघात लगा। लाहौर से दिल्ली तो पहुंच गया परन्तु वहां हस्पताल में उसकी मृत्यु हो गयी। जगदीश्वरी दिल्ली के एक स्कूल में सिलाई सिखाकर बच्चों को अपनी हिम्मत से पढ़ा-लिखा रही थी। अब वह चंदौसी में है।

आजाद का व्यक्तित्व

मेरे रूस जाने के सम्बन्ध में दल के दूसरे साथियों से बात करना भी आवश्यक था, विशेषकर सुरेन्द्र पांडे से। रूस जाने की बात पांडे को इतनी पसन्द आयी कि वह भी जाने के लिये तैयार हो गया। उन दिनों इलाहाबाद, कटरे में लिये एक मकान में हम लोग प्राय: ही बहस में लगे रहते थे। बहस अपने उद्देश्यों के सैद्धान्तिक पक्ष पर तो होती ही थी, उसके साथ ही रूस जाने की उपयोगिता और राउण्ड-टेबल-कान्फ्रेंस द्वारा समझौते के सम्बंध में भी। यह पहला ही अवसर था कि अंग्रेज सरकार ने कांग्रेस का सार्वजनिक प्रभाव स्वीकार कर परामर्श के लिये कांग्रेस को निमंत्रण दिया था। सरकार के व्यवहार से कांग्रेसियों में ऐसी भावना पैदा हो गयी थी कि अंग्रेज सरकार स्वराज्य दे ही रही है। हम लोगों को भी ऐसा ही जान पड़ रहा था कि कांग्रेस और अंग्रेज सरकार में तो समझौता हो ही जायगा। हमारी स्थिति क्या होगी? क्या हम फिर लड़ते ही रहेंगे?

आजाद को अंग्रेज सरकार से समझौते का विचार भी असह्य था। उन का कहना था कि अंग्रेज जब तक इस देश में शासक के रूप में रहें, हमारी उन से गोली चलती ही रहनी चाहिये। समझौते का कोई अर्थ नहीं है। अंग्रेज से हमारा एक ही समझौता हो सकता है कि वह अपना बोरिया-बिस्तर सम्भाल कर यहां से चल दें। यही भावना १९४२ में 'क्विट इंडिया' मांग या 'भारत छोड़ो' नारे में प्रकट हुई थी। मैं और सुरेन्द्र भी सिद्धान्त रूप से आजाद की बात मानते थे परन्तु यह नहीं चाहते थे कि कांग्रेसी नेताओं को अपना शत्रु बना लें। अभिप्राय था, देखो तो सही समझौता होता कैसा

है ? यदि कांग्रेस उस से संतुष्ट हो जाती है तो हमें व्यक्तिगत रूप से फरार बने रह कर भी समझौते की प्रतिक्रिया और परिस्थिति देख कर चलना होगा। यह सब सैद्धान्तिक बात करते समय, अपने व्यक्तित्व की चिन्ता न करके भी यह खयाल आता ही था कि आखिर व्यक्तिगत रूप से हम क्या करेंगे, हमारा क्या होगा ?

मैं किसी समय आजाद से मजाक करने लगता— "भैया घबराते क्यों हो ! कांग्रेस और अंग्रेज सरकार का समझौता हो जायगा तो फिर हमें फरार रहने की जरूरत नहीं होगी। तुम्हारा नाम खूब प्रसिद्ध हो चुका है। कांग्रेसी इतना तो सोचेंगे कि तुम थानेदार की पगड़ी और वर्दी में खूब जंचोगे। तुम्हें थानेदारी मिल ही जायगी।"

आजाद को इस बात से चिढ़ आती कि मैं उन्हें केवल थानेदारी के ही लायक समझता हूं। क्रोध दिखलाते—"चल साले, तू बड़ा अफलातून है ! तू क्या बन जायगा ?"

मैं मजाक जारी रखता—"तुम थानेदार बनोगे तो हम लोगों की सिफारिश नहीं करोगे? मैं कम से कम हेड कान्स्टेबल बनूंगा।" और पांडे की ओर संकेत कर कहता— क्योंकि पांडे के हाथ में कोई पुस्तक थमी ही रहती थी, "पांडे के लिये तुम सिफारिश कर देना, यह मिडिल स्कूल का हेडमास्टर बन जायगा।" मैं और पांडे दोनों अभी तक जिन्दा हैं। कांग्रेसी सरकार की कृपा से तो हम हेड कांस्टेबल और मिडिल स्कूल के मास्टर भी न बन सके।

गोलमेज द्वारा समझौता हो जाने की सम्भावना की मानसिक उथल-पुथल के कारण हम लोग इलाहाबाद, कटरे के मकान में एक तरह से शिथिलता के दिन बिता रहे थे या आराम से ही रह रहे थे। समय १९३१ जनवरी का ही था परन्तु हवा में फागुन का फर्राटा और सुहानापन आ गया था। सड़कों पर सूखे पत्ते झड़-झड़ कर उड़ा करते थे। मुझे खूब याद है कि हम लोग कहा भी करते थे कि इस बार हवा में जाने क्या मस्ती भरी है। मकान की छत खपरैल की थी, जैसी कि इलाहाबाद में साधारण स्थिति के मकानों की होती थी। खपरैल की सांधों से हवा आती रहती और छत के ऊपर नीम की पत्तियां और धूल भी गिरती रहती। हम लोग दरी या कम्बल बिछाये कुछ पढ़ा करते या समझौते की सम्भावनाओं और हानि-लाभों पर बात करते रहते। एक पतीला था, उस में खिचड़ी बना लेते। कभी-कभी इसी खिचड़ी में मांस भी डाल लेते। आजाद ब्राह्मणत्व की रक्षा के लिये मांस के टुकड़ों को गाली दे, परे हटा कर शेष का आहार कर लेते। आजाद मांस न खाना चाहते थे पर दूसरे साथी खाना चाहते थे। मध्यम मार्ग यही था कि वे मांस के टुकड़े हटा कर शेष खिचड़ी खा लेते। आजाद को मांस पसंद नहीं था पर छूत का भी डर नहीं था। आजाद ने सुबह दण्ड-सपाटे लगाना और साथियों से पंजा लड़ाना भी शुरू कर दिया।

पांडे एक डिब्बा च्यवनप्राश ले आया था। रात सोते समय डिब्बा आजाद के हाथ पड़ गया। पूछा—"अबे इस में यह काला-काला क्या है ?"

पांडे ने बताया—"खांसी की दवा है।"

मैंने चुटकी ली—"भैया बहुत पौष्टिक और ताकत की दवा भी है।"

आजाद ने सन्देह प्रकट किया—"साला मल्हम-सा लगता है।"

मैंने बताया—"स्वाद भी बहुत अच्छा है।"

"सच ?" आजाद ने पूछा।

थोड़ा-सा चाट कर देखा और बोले—"साला है तो मजेदार !" और पूरा डिब्बा खा गये।

पांडे कहता रहा—"भैया, दवाई है। नुकसान कर जायगी।"

"चल ! चल !" आजाद ने एक न सुनी।

अगले दिन सुबह जब बहुत अधिक दवाई खा जाने का बुरा परिणाम सामने आया तो हम दोनों पर बहुत बिगड़े—"धत्त, क्या वाहियात चीज खिला दी !…कहते थे ताकतवर है… !" जितना ही हम हंसते उतना ही आजाद दवाई की निन्दा कर उसे गाली देते जाते।

गोलमेज कान्फ्रेंस की आशाओं से देश के राजनैतिक वातावरण में जो प्रभाव पड़ा था उसके कारण हम लोगों को जान पड़ने लगा कि अंग्रेज सरकार से लड़ने का काम शायद स्थगित कर देना पड़ेगा। यह भी खयाल आने लगा कि उस अवस्था में हमारा भावी जीवन क्या और कैसा हो सकेगा ? ऐसी मानसिक अवस्था में आजाद कानपुर, चुन्नीगंज के मकान में आकर रात में बहुत देर तक अपने गत जीवन की बातें सुनाते रहते। कुछ आजाद से सुनी चर्चा और कुछ आजाद के बहुत समीपी साथी भगवानदास माहौर और फरारी में उन्हें प्रायः स्थान देने वाले मास्टर रुद्रनारायण जी से सुनी बातों के आधार पर विश्वास है कि आजाद का जन्मस्थान मध्यभारत की झबुआ तहसील का भावरा ग्राम था। उस समय यह गांव अलीराजपुर रियासत के अन्तर्गत था। आजाद के पिता का नाम पंडित सीताराम तिवारी था और माता जगरानी देवी थीं। तिवारी जी की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी इसलिये उन्नाव जिले में अपने बहनोई शिवनन्दन और रामप्रसाद मिश्र के यहां रहते थे। बहुत निस्पृह और निष्ठावान ब्राह्मण थे। स्वभाव काफी तीखा और किसी की बात न मानने वाला था। किसी बात से चिढ़कर उन्नाव छोड़ अलीराजपुर चले गये थे। वहां उन्होंने रियासत के एक बाग की रखवाली का काम आठ-दस रुपये मासिक पर कर लिया था। उस समय ऐसी ही तनखाहें हुआ करती थीं। अन्न-वस्त्र भी सस्ता था।

बचपन में आजाद भी बच्चे ही तो थे। खाने-खेलने का शौक भी था। खाने में उन्हें गुड़ बहुत पसन्द था और खेल था, देसी बारूद भर कर खिलौने की तोप चलाने का पर इस खेल के लिये पैसे काफी न मिलते थे। एक दिन आजाद ने बाग को अपना ही समझ, कुछ फल तोड़ कर गुड़ और बारूद के लिये बेच लिये। पिता की दृष्टि में यह अक्षम्य अपराध था। आजाद पर इतनी मार पड़ी कि मां का कलेजा दहल गया और आजाद के स्वाभिमान ने उस घर में रहना ही स्वीकार नहीं किया। पढ़ने की भी इच्छा थी। मां ने बहुत यत्न से बचाकर रखी हुई अपनी पूंजी, ग्यारह रुपये आजाद को दे दी। आजाद भाग कर विद्या के केन्द्र काशी में पहुंच गये। वहां वे एक क्षेत्र में रह कर लघुकौमुदी और अमरकोष रट रहे थे कि कांग्रेस के सविनय-कानून-भंग आन्दोलन ने उन्हें आकर्षित कर लिया। उस समय उनकी उमर तेरह-चौदह वर्ष रही होगी।

कांग्रेस के सविनय-कानून-भंग आन्दोलन में गिरफ्तार होकर जब वे अदालत में पेश किये गये तो उनके हाथ अभी इतने छोटे थे कि बन्द हथकड़ियों में से निकल आते थे। आजाद हथकड़ियों से हाथ निकाल-निकाल कर पुलिस वालों को चिढ़ाने में मजा लेते थे। परिणाम में उनके दोनों हाथों को मिलाकर हथकड़ी जड़ दी गयी। अदालत में मैजिस्ट्रेट ने उनकी अवज्ञा की—"अभी हाथ भर का तो है नहीं, चला है आन्दोलन करने! भाग जा!" आजाद ने मैजिस्ट्रेट को फटकार दिया। कानूनन आजाद को उस आयु में जेल की सजा नहीं दी जा सकती थी इसलिये ब्रिटिश न्याय की रक्षा के लिये तैनात मैजिस्ट्रेट ने उन्हें जेल में ले जाकर बारह बेंत लगा कर छोड़ देने की सजा दे दी। भुक्तभोगी जानते हैं कि यह सजा छ मास की जेल की अपेक्षा कहीं कड़ी थी। मैजिस्ट्रेट का विचार था कि इतने दण्ड से छोकड़े को सुबुद्धि आ जायगी।

अदालत से मिली बारह बेंतों की सजा का अभिप्राय कुछ लोग नहीं भी समझ सकते हैं। जैसे स्कूल में शरारत करने पर बेंत लगा दिये जाते थे, वही अभिप्राय अदालत से दी जाने वाली बेतों की सजा का नहीं होता। अभियुक्त के जेल में ले जाकर पूरे कपड़े उतार दिये जाते हैं। उसे एक टिकटिकी अर्थात् काठ के आड़े खड़े चौखटे के साथ खड़ा कर हाथ-पांव टिकटिकी से बांध दिये जाते हैं। चूतड़ों और पीठ पर दवाई से भीगा मलमल का एक टुकड़ा डाल दिया जाता है। बेंत पानी में भीगे पड़े रहते हैं। बेंत लगाने का काम सधा हुआ अभ्यस्त भंगी करता है। जेलर के गिनती पुकारते जाने पर भंगी खूब हाथ फैला-फैला कर, पूरा पैंतरा लेकर बेंत को लहरा-लहरा कर अभियुक्त के शरीर पर मारता है। पहली ही चोट में पीठ और चूतड़ों से खून उछल आता है। तेरह-चौदह वर्ष के आजाद को इस प्रकार बारह बेंत लगाये गये। आजाद

हर बेंत की चोट पर 'बन्देमातरम !' और 'महात्मा गांधी की जय !' चिल्लाते रहे।

आजाद बेतों की सजा पाकर जेल से छूटे तो आन्दोलन में और भी तत्परता से भाग लेने लगे। उसी समय उनका सम्पर्क काकोरी दल के लोगों, मन्मथनाथ गुप्त आदि से हो गया। काकोरी की प्रसिद्ध साहसपूर्ण रेल डकैती में सरकारी खजाना लूटने में उन्होंने भाग लिया था। गिरफ्तारियां आरम्भ होने पर आजाद फरार हो गये। लड़कपन में भी वे खूब चुलबुले और फुर्तीले थे इसलिये साथी उन्हें क्विक सिल्वर (पारा) के उपनाम से पुकारते थे। रामप्रसाद बिस्मिल के साथ उन्होंने कई राजनैतिक डकैतियों में भाग लिया था। क्रान्तिकारी लोग डकैती में न तो स्त्रियों पर हाथ उठाते थे, न उनके शरीर के गहने छीनते थे। ऐसे ही अवसर पर एक ठकुराइन अपने एक सन्दूक पर जमकर बैठ गयी थी। आजाद ने उसे कहा—"अम्मा, एक तरफ हट जाओ।" ठकुराइन के बात न मानने पर भी आजाद ने उस पर न चोट की और न धक्का देकर हटाया। चतुर ठकुराइन ने इन लोगों को जाते देख आजाद को कलाई पकड़ली। आजाद भद्रता के विचार से उससे जोर-जबरदस्ती न कर मुंह ताकते खड़े रह गये। जब सब साथी बाहिर आ गये बिस्मिल ने आजाद को न पाकर भीतर जाकर देखा। आजाद भद्रता के नाते बुढ़िया के कैदी बने खड़े थे। बिस्मिल ने ठकुराइन की कलाई पर जोर से हाथ मार कर उन्हें छुड़ा कर डांटा—"अच्छे गधे बन रहे थे तुम ! मरवाओगे सब को !" तब कहीं आजाद को मुक्ति मिली।

आजाद ने बचपन में पढ़ पाने की इच्छा के अतिरिक्त अपने जीवन में कभी कोई व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा नहीं बनायी। उस समय की अपनी समझ-बूझ और उस समय की परम्परा में आस्था के कारण पढ़ने का अर्थ समझा था—संस्कृत। आधुनिक आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन में इस विद्या का कोई विशेष उपयोग न हो सकता था। एक बार राजनैतिक चेतना उत्पन्न हो जाने के बाद उन्हें देश की मुक्ति के लिये विदेशी शासन से लड़ने के अतिरिक्त कोई और इच्छा भी नहीं थी। उनकी कल्पना में अपने जीवन की परिणिती यही थी कि किसी न किसी दिन विदेशी सरकार की पुलिस से लड़ते हुये मारे जायेंगे। यह भी खयाल नहीं था कि गिरफ्तार हो जायेंगे तो अदालत में अपने बयानों से ही लड़ेंगे। बहुत स्पष्ट और दृढ़ इरादा था कि लड़ाई में मरना ही है। सदा ही कहा करते थे—'गिरफ्तार होकर अदालत में हाथ बांधे बंदरिया का नाच मुझे नहीं नाचना है। आठ गोली पिस्तौल में हैं और आठ का दूसरा मैगजीन साथ है। पन्द्रह दुश्मन पर चलाऊंगा और सोलहवीं यहां।' और वे अपनी पिस्तौल की नली अपनी कनपटी पर छुआ देते थे।

उन दिनों राजनैतिक वातावरण समझौते की आशा से भरा था। इस स्थिति

का असर आजाद पर भी कैसे न होता ? उस रात वे कहने लगे—"कांग्रेस ने अगर समझौता कर ही लिया तो मैं पेशावर से परे सरहद पार निकल जाऊंगा । वजीरी और अफरीदी अंग्रेजों से कभी समझौता नहीं कर सकते । उन्हीं लोगों के साथ अंग्रेजों से लड़ कर रहूंगा ।···सोहन, ऐसे समय आदमी को अकेलापन खलता है । तुमने और टुइय्यां (प्रकाशवती) ने अच्छा किया कि साथी बन गये । जीवन की हर हालत का साथ तो स्त्री-पुरुष में ही जम सकता है । मैं अब अगर सोचूं भी तो ऐसी स्त्री है कहां ? दीदी (सुशीला) को ही देखो; क्या मरगिल्ला सा जिस्म है । दिमाग ही को लेकर कोई क्या करेगा । अलबत्ता भाबी है कुछ, पर वह भी नहीं । मैं तो ऐसी स्त्री से शादी करना चाहता हूं कि कांग्रेस वाले अंग्रेजों से समझौता कर भी लें तो हम सरहद पार चले जांय । दोनों के कंधों पर राइफलें हों और एक-एक बोरी कारतूस । जहां घिर जायें, वह राइफल भर-भर कर देती जाये और मैं दन-दनादन चलाता जाऊं··· बस इसी तरह समाप्त हो जायें ।"

एक समय, बल्कि १९२८ तक आजाद की धारणा थी कि क्रान्तिकारियों के लिये ब्रह्मचर्य का ही मार्ग उचित है । स्त्री का चुम्बक केवल उलझन और परेशानी का ही कारण होता है । मजाक में 'स्त्री' के लिये पर्यायवाची शब्द उन्होंने 'चुम्बक' ही बना रखा था । यों एक समय आजाद संस्कृत को ही सम्पूर्ण विद्या समझते थे परन्तु अनुभव और मानसिक विकास से उन का दृष्टिकोण विस्तृत हो गया था । ऐसे ही स्त्री के सम्बंध में भी आजाद की धारणा बहुत बदल गयी थी । वीरभद्र से नाराजगी में प्राय: ही कहते थे—"साला जोरू को पर्दे में ऐसे बन्द रखता है जैसे वह इंसान नहीं, चोरी की चीज हो ।"

आजाद ने अपनी फरारी के काफी दिन झांसी के बहुत योग्य मूर्तिकार मास्टर रुद्रनारायण जी के घर बिताये थे । उस घर पर आजाद को इतना विश्वास था कि उन्होंने अपना एकमात्र फोटो मास्टर साहब के आग्रह पर उनके यहां ही खिचवाया था । कारण यह था कि मास्टर साहब आजाद की मूर्ति बनाना चाहते थे । मूर्ति वे बना चुके हैं । इस मूर्ति को वे अपनी विशेष निधि समझते हैं ।

आजाद प्राय: ही मास्टर साहब से झगड़ते कि वे भाबी को सार्वजनिक जीवन में काम करने का समय नहीं देते । झांसी में पुलिस की सरगर्मी अधिक हो जाने पर संदेश भेजने और मंगवाने का काम भी वे प्राय: गुनिया महरी से ही लेते थे । गुनिया का यौवन और रूप-रंग अच्छा होने के कारण, जैसा कि प्राय: होता है, लोग उसके सम्बन्ध में बातें बनाने से भी न चूकते थे परन्तु आजाद को गुनिया की ऐसी आलोचना से कोई मतलब न था । वे कहते थे—"···चाहे जो कहें, हम जानते हैं, वह दगाबाज

नहीं भरोसे की है इसलिये सच्चरित्र है।" सच्चरित्र का अर्थ वे केवल यौन सम्बन्धों तक ही सीमित नहीं मानते थे। निष्ठा, साहस, निर्लोभ आदि का महत्व उनकी दृष्टि में कहीं अधिक था।

विश्वनाथ वैशम्पायन ने आजाद के नैतिक विचारों पर एक लेख में यह लिखा था कि आजाद दल के लोगों का स्त्रियों से सम्पर्क और दल में स्त्रियों का सम्मिलित होना दल के लिये हानिकारक समझते थे। वैशम्पायन के अनुसार आजाद कहते थे—"स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः···" आजाद को इतना मूढ़ और संकीर्ण विचार समझना उनके साथ घोर अन्याय है। आजाद में इतनी बुद्धि थी कि वे पुरुषों और स्त्रियों के चरित्रों को सामाजिक परिस्थितियों का ही परिणाम समझते थे। स्त्रियों और पुरुषों के चरित्र एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। समाज में पुरुष की प्रधानता होने पर स्त्री के चरित्र की शिथिलता पुरुष की उच्छृङ्खलता का ही परिणाम होगी। स्त्री को यदि पुरुष के साथ कभी धोखा करना पड़ता रहा है तो स्त्री के ऐसे व्यवहार के लिये पुरुष का दमन ही उत्तरदायी था। आजाद की यह धारणा कभी नहीं थी कि स्त्रियों को सदा दमन और संदेह की कैद में रखा जाये। पुरुष यदि स्त्रियों के प्रति आकर्षित होकर असंयम का व्यवहार करते हैं तो उसके लिये स्त्रियों को उनके स्वाभाविक सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक अधिकारों से वंचित कर दिया जाये—यह आजाद नहीं कह सकते थे। आजाद इतना भी समझते थे कि यदि स्त्री का आकर्षण दल के किसी साथी को पथभ्रष्ट कर सकता है तो स्वभाव की कायरता, मृत्यु का भय, धन का लोभ और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा या ईर्षा उससे कहीं अधिक नीचे गिरा दे सकती है। स्त्री की दृष्टि में आदर पाने की इच्छा पुरुष को साहस भी दे सकती है। पुरुष यदि पथभ्रष्ट होता है तो इसका दण्ड स्त्री को नहीं देना चाहिये।

वैशम्पायन ने 'नया समाज' के अपने लेख में आजाद के जीवन की एक घटना को अतिशयोक्ति से चित्रित कर बताया है कि आजाद इस अनुभव के कारण स्त्रियों को अविश्वास के योग्य समझते थे। यह तो हुई एक घटना परन्तु आजाद ने अपने जीवन में कायर, लम्पट और विश्वासघाती स्त्रियां तो एक-दो ही देखी होंगी; पुरुष कई देखे थे। ऐसी अवस्था में वे पुरुषों को ही दल के कार्य के योग्य कैसे मान सकते थे। बम्बई लैमिंगटन रोड की घटना में दुर्गा भाबी ने संकेत पाते ही भरी भीड़ में सरे बाजार गोली चला दी परन्तु उस घटना की योजना के लिये जिम्मेवार पुरुषों की निष्ठा या साहस की कमी से बात कुछ भी नहीं बनी अथवा स्वयं वैशम्पायन के कानपुर में रिवाल्वर जेब में होते हुए भी गिरफ्तारी के समय कुछ न कर सकने से आजाद किस

परिणाम पर पहुंचे होंगे ?

आजाद की विद्वता और विचारधारा के सम्बन्ध में भी बहुत विवाद चला है। असल बात तो यह है कि आजाद 'हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र संघ' के सैद्धान्तिक नेता नहीं, सैनिक नेता थे। स्कूल-कालिज की शिक्षा का अवसर उन्हें मिला ही नहीं था। पुस्तकें पढ़ने की अपेक्षा दूसरों से सुनकर ही बात समझ सकते थे परन्तु ग्राह्य-शक्ति और बुद्धि काफी तीक्ष्ण थी। बुद्धि तीक्ष्ण होने के साथ ही स्वभाव की सरलता थी इसलिये जब तक पहले से कारण न हो आदमी को पहचानने में गलती भी कर जाते थे। प्रवृत्ति सैनिक होने का मतलब यह नहीं कि यह भी न समझते हों कि अपना जीवन किस बात के लिये बलिदान कर रहे थे। कोई भी क्रान्तिकारी प्रयत्न सैद्धान्तिक सूत्र के बिना चल ही नहीं सकता। हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र संघ का सैद्धान्तिक सूत्र 'समाजवादी' और 'प्रजातन्त्र' शब्दों से स्पष्ट हो जाता है। आजाद दल के इस सैद्धान्तिक लक्ष्य से खूब परिचित थे; इतने कि इसके लिये बलिदान हो जाने में उन्हें संतोष था। हिसप्रस ने १९३० जनवरी में अपने राजनैतिक सिद्धान्त की घोषणा 'बम का दर्शन' (Philosophy of the Bomb) नामक पत्र में की थी। आजाद ने बहुत ध्यान से इस पत्र के एक-एक शब्द को अधमुंदी आंखों और दांतों से मूंछें खोंटते हुये सुन कर बहुत संतोष से इस पर हस्ताक्षर किये थे। इस पत्र में हमने अपना मत साम्प्रदायिक, रूढ़िवाद की कड़ियों को तोड़ कर श्रेणीहीन समाज में श्रम करने वालों के प्रजातंत्र शासन के रूप में प्रकट किया था। यही आजाद का राज-नैतिक सिद्धान्त था। आजाद समाजवादी लक्ष्य को स्वीकार करते थे। इस का अर्थ यह नहीं कि वे समाजवाद के मूल विचार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की व्याख्या कर सकते थे अथवा विचारों के पार्थिव आधारों की समीक्षा कर सकते थे। इतना तो उस समय हम में से कोई भी नहीं कर सकता था परन्तु यह हम सभी जानते थे कि हमारा लक्ष्य अपने देश के लिये ऐसी स्वतन्त्रता है जिस में देश के सभी व्यक्तियों की जीविका उपार्जन और जीवन के विकास का समान अवसर हो और सभी स्त्री-पुरुष न केवल अपने श्रम का पूरा फल पा सकें बल्कि देश के सब लोग अपनी क्षमता के अनुसार परिश्रम करके अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सकने का अवसर पायें।

आजाद सैद्धान्तिक रूप से हम अन्य सब लोगों की ही भांति निरीश्वरवादी थे अर्थात् यह नहीं मानते थे कि व्यक्ति और समाज के जीवन का आधार ईश्वरीय निर्देश और न्याय है। हमारे दल की सैद्धान्तिक दिशा क्या थी, इस का प्रत्यक्ष प्रमाण १९३५-३७ में अन्दमान की जेल में मिल गया। उस समय वहां हमारे दल के बहुत से साथी अजय घोष, विजयकुमार, शिववर्मा, जयदेव कपूर, महावीर, धन्वन्तरी इत्यादि

जमा थे । उन के साथ ही बंगाल के अनुशीलन और युगान्तर दलों के भी लोग मौजूद थे । जेल में उन्हें अध्ययन और विचार का पर्याप्त अवसर था । उस समय उन लोगों ने सम्मिलित रूप से अपने आप को मार्क्सवादी घोषित कर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम को अपना लिया । आजाद और भगतसिंह यदि आज जिन्दा होते तो न तो उन के लिये विधान सभा में कांग्रेसी दल में स्थान होता और न ही वे किसी पूंजीपति संस्था की संरक्षकता में स्थान स्वीकार कर सकते थे । शायद वे कम्युनिस्ट पार्टी से भी पूर्णतः सहमत न हो पाते; मैं स्वयं समाजवादी लक्ष को स्वीकार के भी इस दल में सम्मिलित नहीं हो सका ।

१६३१ के शुरू की बात कह रहा था । एक दिन आजाद गोलमेज कान्फ्रेंस द्वारा समझौते की आशाओं और आशंकाओं के सम्बंध में पंडित जवाहरलाल नेहरू से बात करने आनन्द भवन गये । कुछ ही दिन पूर्व पंडित मोतीलाल जी का देहान्त हो चुका था । आजाद एक बार मोतीलाल जी से भी मिल चुके थे । पंडित मोतीलाल जी से मिलने का प्रयोजन सैद्धान्तिक राजनैतिक बातचीत नहीं था । मोतीलाल जी बहुत जिन्दादिल आदमी थे । स्वयं कांग्रेस के कार्यक्रम को अपना कर भी क्रान्तिकारियों की सहायता करना वे नैतिकता के विरुद्ध नहीं समझते थे । काकोरी षड़यन्त्र के मुकदमे में अभियुक्तों को कानूनी सहायता पहुंचाने के लिये उन्होंने बहुत कुछ किया था । हो सकता है आजाद का संदेश पा कर स्वयं मोतीलाल जी ने ही उन्हें मिलने के लिये बुला लिया हो ।

क्रान्तिकारियों को देख पाने की उत्सुकता लोगों में रहा ही करती थी । मुझे याद है, आजाद की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद इलाहाबाद में शिवमूर्तिसिंह जी ने मुझ से अनुरोध किया कि मैं जानस्टनगंज के एक मकान में इतने बजे कुछ मिनिट के लिये आ जाऊं । बुलाने का कारण उन्होंने कोई बताया नहीं पर उन पर विश्वास था इसलिये मैं चला गया । शिवमूर्तिसिंह जी दो व्यक्तियों के साथ आये । दोनों ने दूर से ही प्रणाम किया और चले गये । मुझे इस से बहुत उलझन सी अनुभव हुई । बाद में शिवमूर्तिसिंह जी से पूछा तो उन्होंने बताया कि अमुक राजा साहब केवल दर्शन करना चाहते थे परन्तु पंडित मोतीलाल जी ने ऐसा निरर्थक व्यवहार नहीं किया । आजाद को बुला कर खाना खिलाया और बातचीत भी की थी । उस मुलाकात के समय पंडित जवाहरलाल जी की छोटी बहिन कृष्णा भी थीं । आजाद कृष्णा के उर्दू उच्चारण की नकल करके भी सुनाया करते थे । पंडित नेहरू ने आजाद से मुलाकात के विषय में अपनी आत्मकथा में स्वयं भी जिक्र किया है कि '…आजाद मुझ से मिलने के लिये इसलिये तैयार हुआ था कि हमारे जेल से छूट जाने से आमतौर पर आशाएं बंधने लगी थीं कि सरकार

और कांग्रेस में कुछ न कुछ समझौता होने वाला है । वह जानना चाहता था कि अगर कोई समझौता हो तो उस के दल के लोगों को भी कोई शान्ति मिलेगी या नहीं ? क्या उन के साथ तब भी विद्रोहियों का सा बर्ताव किया जायगा ? जगह-जगह उन का पीछा उसी तरह किया जायगा ।…उन के सिरों के लिये इनाम घोषित होते ही रहेंगे और फांसी का तख्ता हमेशा लटकता ही रहेगा या उन के लिये शांति के साथ काम-धन्धे में लग जाने की भी कोई सम्भावना होगी ? उस ने कहा कि खुद मेरा तथा मेरे दूसरे साथियों का यह विश्वास हो चुका है कि आतंकवादी तरीके बिलकुल बेकार हैं, उस से कोई लाभ नहीं है । हां, वह यह मानने के लिये तैयार नहीं था कि शांतिमय साधनों से ही हिन्दुस्तान को आजादी मिल जायगी । उस ने कहा, आगे कभी सशस्त्र लड़ाई का मौका आ सकता है मगर यह आतंकवाद न होगा ।'* इसी प्रसंग में पंडित जी आगे लिखते हैं—'…मुझे आजाद से यह सुन कर खुशी हुई थी और बाद में उस का सुबूत भी मिल गया कि आतंकवाद पर से उन लोगों का विश्वास हट गया है ।… अवश्य ही इस के यह माने नहीं हैं कि पुराने आतंकवादी और उन के नये साथी अहिंसा के हामी बन गये हैं या ब्रिटिश सरकार के भक्त बन गये हैं । हां अब वे आतंकवादी भाषा में नहीं सोचते । मुझे तो ऐसा मालूम होता है उन में से बहुतों की मनोवृति निश्चित रूप से फासिस्ट बन गयी थी ।*

नेहरू जी की 'मेरी कहानी' से इस उद्धरण की चर्चा करते समय यह याद रखना जरूरी है कि पुस्तक ब्रिटिश शासनकाल में लिखी गयी थी । सब बातें वे स्पष्ट लिख भी नहीं सकते थे । यह पुस्तक पंडित जी ने सम्भवत: १९३४ या ३६ में लिखी होगी । आजाद उस समय शहीद हो चुके के । नेहरू जी ने इसी के कुछ दिन बाद हुई उनकी और मेरी मुलाकात की बात नहीं लिखी । याद न रहने की कोई सम्भावना नहीं थी क्योंकि १९३८ में मेरी उनसे भुवाली में भेंट हुई तब उन्हें हमारी मुलाकात याद थी । मुझे याद है, यह पुस्तक पहली बार अंग्रेजी में १९३७ में मैंने नैनी जेल में पढ़ी थी । तब भी बात मुझे खटकी थी । खास कर नेहरू जी का हम लोगों की मनोवृत्ति को फासिस्ट बताना ।

आजाद ने नेहरू जी से मुलाकात के बाद जब इस घटना की बात हम लोगों को कटरे के मकान में सुनाई तो उनके भी होंठ खिन्नता से फड़फड़ा रहे थे और उन्होंने कहा था—"साला हमें फासिस्ट कहता है…" आजाद का अभिप्राय गाली देने का नहीं था । बचपन की संगति के प्रभाव से कुछ शब्द उन की जबान पर तकिया कलाम

* पं० जवाहरलाल नेहरू 'मेरी कहानी' आठवां हिन्दी संस्करण पृष्ठ २६९

शहीद चन्द्रशेखर आज़ाद
की
माता जगरानी देवी
और
भावरा में उनकी झोपड़ी

चन्द्रशेखर आज़ाद की शहादत के बाद पुलिस द्वारा लिया हुआ चित्र

के रूप में चढ़ गये थे। गम्भीरता में या क्रोध में गाली कभी नहीं देते थे। यों बात-चीत में अभ्यास और असावधानी में गालियां मुंह से झड़ ही जाती थीं। मेरा विचार है आजाद ने यह नही कहा होगा कि उनका तथा उनके साथियों का विश्वास हो चुका है कि उनके दल के आतंकवादी तरीके बिलकुल बेकार थे। उन्होंने अनुमानतः ये कहा होगा—"हम आतंकवादी नहीं हैं। हम सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टा कर रहे हैं।" वह बात पंडित जी की अगली पंक्तियों से भी स्पष्ट हो जाती है—"वह यह मानने के लिये तैयार नहीं था कि शांतिमय साधनों से ही हिन्दुस्तान को आजादी मिल जायगी। उसने कहा, आगे कभी सशस्त्र लड़ाई का मौका आ सकता है।" आजाद के यह शब्द ही हमारे दल के विचार थे। पंडित जी ने आजाद की बातों में फासिज्म की गंध कैसे पायी, यह समझा नहीं जा सकता। फासिज्म तो शासन के दमन पर आश्रित पद्धति है। हम लोग तो शासन करने का स्वप्न देख नहीं रहे थे बल्कि ब्रिटिश शासन के दमन या फासिज्म का विरोध कर रहे थे।

हि०स०प्र०स० अपना राजनैतिक और शासन सम्बन्धी दृष्टिकोण अपने घोषणा-पत्र 'फिलासफी आफ दी बम' द्वारा जनवरी १९३० में स्पष्ट कर चुका था—'क्रान्तिकारियों का विश्वास है कि देश की जनता की मुक्ति केवल क्रान्ति द्वारा ही सम्भव है। क्रान्ति से हमारा अभिप्राय केवल जनता और विदेशी सरकार में सशस्त्र संघर्ष ही नहीं है। हमारी क्रान्ति का लक्ष्य एक नवीन न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था है। इस क्रान्ति का उद्देश्य विदेशी पूंजीवाद को समाप्त करके श्रेणीहीन समाज की स्थापना करना और विदेशी और देशी शोषण से जनता को मुक्त करके आत्मनिर्णय द्वारा जीवन का अवसर देना है। इसका उपाय शोषकों के हाथ से शासन शक्ति लेकर मजदूर श्रेणी के शासन की स्थापना ही है।' यह थे आजाद के विचार जिन्हें पंडित नेहरू ने फासिस्ट प्रवृत्ति समझ लिया। आजाद अंग्रेजी में बात नहीं कर सकते थे शायद इसलिये नेहरू जी उनकी बात समझ नहीं पाये। आजाद ने नेहरू जी से बात-चीत में विशेष अनुरोध यह किया था कि गांधी जी सरकार से समझौते की शर्तों में लाहौर षड़यन्त्र केस के लोगों, भगतसिंह आदि की रिहाई की बात को भी रखें। यह मांग केवल आजाद की नहीं थी बल्कि जनता की थी। नेहरू जी स्पष्ट इन्कार कर दिया था कि गांधी जी ऐसी शर्त नहीं रखेंगे।

यहां यह चर्चा भी अप्रासंगिक नहीं होगी कि लाहौर कांग्रेस में जब गांधी जी ने वायसराय की गाड़ी के नीचे विस्फोट करने वाले लोगों को कायर और उन के कार्य को जघन्य कह कर उन की निन्दा का प्रस्ताव पेश किया था तो कांग्रेस अधिवेशन में उस प्रस्ताव का स्वीकार किया जाना ही असम्भव जान पड़ रहा था। ऐसी अवस्था में

गांधी जी ने धमकी दी थी कि यदि यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया जायगा तो वे कांग्रेस को छोड़ देंगे। ऐसे व्यवहार को जनवादी तरीका नहीं कहा जा सकेगा। नेहरू जी ने गांधी जी के उस संकट के समय उन का साथ दिया था। नेहरू जी अपनी भावना जनवादी होते हुये भी सदा ही गांधी जी के संगठित दल का ही साथ देते रहे थे। मुसोलिनी ने 'फासिस्ती' शब्द 'दल या संगठन के शासन' के अभिप्राय से ही चुना था। शब्द की मूल भावना और अभिप्राय से गांधी जी और नेहरू जी ही फासिज्म के सहधर्मी रहे हैं।

आजाद को इस बात का बहुत कलख था कि नेहरू जी ने उन्हें फासिस्ट कहा। उन्होंने कहा—"सोहन, एक दिन तुम जाकर पंडित नेहरू से मिलो।" मैंने प्राय: फरवरी के दूसरे-तीसरे सप्ताह में शिवमूर्तिसिंह जी से कह कर नेहरू जी से समय निश्चित किया और संध्या समय आनन्द भवन गया। पंडित जी समाचार पाकर बाहर आ गये। हम दोनों दीवार के साथ लगे नींबू के वृक्षों की बाढ़ के साथ-साथ टहलते हुये बात करने लगे। पंडित नेहरू ने आतंकवाद को व्यर्थ बताया। मैंने यही कहा कि हम लोग आतंकवादी नहीं हैं। हम व्यापक सशस्त्र क्रान्ति का प्रयत्न कर रहे हैं। हमारा प्रयत्न भी देश की मुक्ति के लिये ही संघर्ष का भाग है। हम सरकार के दमन से लोहा लेकर उसे बताना चाहते हैं कि उस की शस्त्र-शक्ति से भी हम भयभीत नहीं हैं। हमारा दृष्टिकोण समाजवादी है, आतंकवादी नहीं। इसी प्रसंग में मैंने अनुभव प्राप्त करने के लिये रूस जाने की इच्छा का जिक्र किया और नेहरू जी से आर्थिक सहायता का अनुरोध भी किया।

नेहरू जी ने मुझे बताया कि मोतीलाल जी की मृत्यु के बाद से वे अपनी आर्थिक स्थिति के बारे में स्वयं ही चिन्तित थे। सोच रहे थे कि अपने बहुत फैले हुए खर्च को कम कर दें या आमदनी के लिये वकालत शुरू कर दें। आर्थिक सहायता दे सकना उनके बस की बात नहीं। मैंने कहा—"ऐसे मामलों में किसी एक व्यक्ति की जेब पर तो भरोसा किया नहीं जा सकता। राष्ट्रीय काम तो सामूहिक सहायता से चलते हैं। आपका प्रभाव इस में सहायक हो सकता है।"

कुछ सोच कर नेहरू जी ने कहा—"आतंकवादी काम के लिये तो मैं कुछ भी सहायता नहीं करूंगा। हां, रूस जाने वाली बात के लिये मैं सोचूंगा।" व्यक्तिगत रूप से उन्होंने मुझे (वायसराय की ट्रेन के नीचे बम-विस्फोट का मुकद्दमा मेरे विरुद्ध होने के कारण) रूस या विदेश चले जाने की ही राय दी। उन्होंने पूछा कि इसके लिये कितना रुपया चाहिये। मैंने अनुमान से पांच-छ हजार की रकम बता दी। नेहरू जी ने कहा—इतना तो बहुत है पर जो कुछ हो सकेगा करूंगा और शिवमूर्तिसिंह की

मार्फत उत्तर दूंगा ।

लौट कर मैंने बातचीत का ब्यौरा आजाद को बताया तो उन्हें काफी संतोष हुआ। उस रात यह तय हो गया कि पहले मैं और सुरेन्द्र पांडे, चौधरी रामधनसिंह द्वारा सीमान्त पर तैयार किये सूत्र से रूस चल दें। यदि कांग्रेस और सरकार के समझौते का रूप ऐसा हुआ कि उसमें हमारे साथियों का रहना असम्भव हो जाये और गांधी जी के प्रभाव के कारण हमारे सशस्त्र आन्दोलन को भी काफी समय के लिये स्थगित करना आवश्यक हुआ तो आजाद भी प्रकाशवती या दूसरे रूस जाना चाहने वाले साथियों सहित उसी मार्ग से आ जायेंगे। प्रकाशवती से आजाद इस विषय में कानपुर में पहले ही बात कर चुके थे ।

लगभग तीसरे दिन शिवमूर्तिसिंह जी ने मुझे पन्द्रह सौ रुपये देकर कहा कि शेष के लिये नेहरू जी प्रबन्ध कर रहे हैं। कटरे के मकान में लौट कर यह रुपया मैंने आजाद को सौंप देना चाहा। उन्होंने कहा—"नहीं, तुम्ही रखो।" इस विचार से कि किसी दुर्घटना से सभी रुपया एक साथ न चला जाये, पांच सौ मैंने उनकी जेब में डाल ही दिये। उस रात प्राय: रूस जाने के सम्बन्ध में ही बातें होती रहीं ।

हमने सोचा, बीहड़ इलाकों में से जाते समय सौ तरह की बीमारी-शीमारी की मुसीबत आ सकती है। कुछ आवश्यक दवाइयां लेते जायंगे। पंजाब में और आगे सर्दी ज्यादा होगी। चौक से दो स्वेटर भी खरीद लें।

आजाद ने कहा—"मुझे एलफ्रेड पार्क में किसी से मिलना है। साथ ही चलते हैं। तुम लोग आगे निकल जाना।"

हम तीनों एलफ्रेड पार्क के सामने से साइकलों पर जा रहे थे। एक साइकल पर सुखदेवराज पार्क में जाता हुआ दिखाई दिया। मैं समझ गया कि भैया को राज से मिलना है। हम दोनों से वे प्राय: अलग-अलग ही मिलते थे। भैया पार्क में चले गये और पांडे और मैं सीधे चौक की ओर।

चौक में हम लोगों ने आवश्यक दवाइयां ले लीं। एक दुकान से हम लोगों ने दो स्वेटर खरीदे ही थे कि लोगों को चिल्लाते हुए सुना—"कम्पनी बाग (एलफ्रेड पार्क) में पुलिस के साथ किसी की जबरदस्त गोली चल रही है।"

पांडे ने उन लोगों को सम्बोधन कर घबराहट से पूछा—"क्या हुआ?...किससे गोली चली?"

एलफ्रेड पार्क में गोली चल जाने की बात सुनकर मेरा भी मन कांप उठा परन्तु पांडे का हाथ दबा कर मैंने कहा—"Don't be excited" (उत्तेजित मत हो)! हम लोग समझ गये कि एलफ्रेड पार्क में पुलिस की गोली किससे चली होगी। पांडे

को तो मैंने उत्तेजित न होने के लिये कहा पर मैं स्वयं ही खलबला उठा था। अपनी साइकल घुमाते हुए मैंने पांडे से कहा—"मैं वहीं जा रहा हूं।"

"जरा सुनो!" पांडे मेरी साइकिल का हैंडल थाम कर बोला, "खबर यहां तक पहुंचने तक तो सब कुछ हो चुका होगा। तुम भी समझ से काम लो। वहां जाकर क्या करोगे?......अब वहां जाकर अपने आप को पुलिस के हाथों सौंप देना ही होगा।"

बात पांडे की ठीक थी परन्तु ऐसे जान पड़ा कि अंधेरा सा छा गया हो। फिर भी हम लोग रह नहीं सके और कुछ चक्कर देकर उस ओर गये ही। पुलिस लोगों को पार्क के भीतर जाने से रोक रही थी। पार्क के गिर्द सड़कों पर काफी भीड़ जमा थी। भीड़ के लोगों की बातों से निश्चय हो गया कि गोली क्रान्तिकारियों और पुलिस में चली थी। भीड़ के अनुसार क्रान्तिकारी दो थे और पुलिस के साठ-सत्तर सिपाही। क्रान्तिकारी एक पेड़ के नीचे बैठे बात कर रहे थे। पुलिस ने उन्हें सब ओर से घेर कर ललकारा। दोनों ओर से गोली चलने लगी।

उस समय उत्तर प्रदेश में पुलिस का इन्सपेक्टर जनरल हालिंस था। हालिंस ने अंग्रेजी पत्रिका 'Men Only' के अक्तूबर १९५४ के अंक में भारत में अपनी नौकरी के संस्मरणों के प्रसंग में आजाद और पुलिस की इस लड़ाई का जिक्र किया है। इस लेख के अनुसार आजाद की पहली गोली अंग्रेज पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट नाटबावर की बांह में लगी। पुलिस के सिपाही बाड़ की झाड़ियों के पीछे छिप कर आजाद और उनके साथी पर गोलियां चलाने लगे। पुलिस इन्सपेक्टर विशेश्वरसिंह निशाना लेने के लिये झाड़ी के ऊपर से झांक रहा था। उस समय तक आजाद के शरीर में दो-तीन गोलियां धंस जाने से खून बह रहा था। ऐसी हालत में भी आजाद ने इन्सपेक्टर के झांकते हुये चेहरे का निशाना लेकर जो गोली चलायी उससे विशेश्वरसिंह का जबड़ा टूट गया। हालिंस ने अपने संस्मरण में आजाद के इस निशाने की प्रशंसा करते हुये लिखा है—'यह आजाद का अन्तिम परन्तु बहुत प्रशंसा के योग्य निशाना था।'

हालिंस ने तो यही लिखा है कि आजाद पुलिस की गोलियों से मारे गये परन्तु लड़ाई के समय मौजूद लोगों का कहना है कि दोनों क्रान्तिकारियों में से एक ज़ख्मी होकर लड़ता रहा। दूसरा भाग गया। लड़ने वाले ने आखिरी गोली अपनी कनपटी पर मार ली। उसके गिर पड़ने पर भी पुलिस ने तुरन्त उसके समीप आने का साहस न किया। कई गोलियां उसके शरीर में मार कर निश्चय कर लिया कि वह निष्प्राण हो चुका है। पुलिस शरीर को लारी में उठा कर ले गयी। सरकार की ओर से इस विषय में छपी सूचना में यह भी कहा गया था कि आजाद की जेब में पांच सौ रुपये

के नोट पाये गये थे। यह रुपया पंडित नेहरू से मिले डेढ़ हजार में से ही था।

इलाहाबाद के राष्ट्रीय भावना रखने वाले और कांग्रेसी लोग आजाद का अंतिम संस्कार उचित ढंग से करना चाहते थे। नेहरू जी की पत्नी स्वर्गीय कमला नेहरू और बाबू पुरुषोत्तमदास जी टण्डन ने भी अन्तिम संस्कार के लिये आजाद का शरीर पुलिस से पाने का बहुत यत्न किया। पुलिस उनका शरीर देने में आनाकानी कर रही थी। अन्त में एक व्यक्ति को आजाद के भाई के रूप में उनके शव की मांग करने के लिये पेश किया गया। आजाद का शरीर मिलने पर पाया गया कि उनकी दायीं कनपटी पर गोली का घाव था और घाव के चारों ओर के बाल जले हुये थे। यह इस बात का प्रमाण था कि कनपटी का घाव, पिस्तौल कनपटी पर रख कर गोली चलाने से हुआ था। गोली दूर से आकर लगने पर कनपटी पर बालों के जलने का कोई कारण न होता। संस्कार गंगा तट पर किया गया। जुलूस न निकाले जाने की खास ताकीद थी फिर भी अर्थी के साथ बड़ी संख्या में लोग एकत्र हो गये और चिता की भस्म को चुटकी-चुटकी श्रद्धा से उठा ले गये।

एलफ्रेड पार्क में जिस वृक्ष के नीचे आजाद ने वीर गति प्राप्त की थी, घटना के दूसरे दिन से बहुत से लोग क्रान्तिकारी राष्ट्रीय वीर की स्मृति में उस पेड़ की पूजा करने लगे। पेड़ के तने में काफी छर्रे या गोलियां धंस गयी थीं। श्रद्धालु लोगों ने पेड़ के तने पर सिंदूर पोत दिया और वृक्ष के नीचे धूप-दीप जलाकर फूल चढ़ाने लगे। शीघ्र ही वहां पूजा करने वालों की भीड़ अधिक हो गयी। ब्रिटिश सरकार को यह असह्य था। सरकार ने वह पेड़ कटवा दिया परन्तु जनता तभी से एल्फ्रेड पार्क को आजाद पार्क पुकारने लगी थी और पार्क का यही सर्वमान्य नाम हो गया था। कई दूसरे नगरों में भी लोगों ने अपने चौकों या पार्कों के नाम आजाद चौक, आजाद पार्क रख लिये हैं। लाहौर कांग्रेस में क्रान्तिकारियों के कामों की निन्दा का प्रस्ताव पास करवाने वाले नेताओं के लिये, यदि वह प्रस्ताव उन लोगों ने ब्रिटिश सरकार को खुश करने के लिये नहीं बल्कि वास्तविक निष्ठा से पास किया था, जनता की यह भावना असह्य ही रही होगी। शायद इसीलिये कांग्रेस शासन में इस पार्क पर 'मोतीलाल नेहरू स्मारक' का पत्थर या पट्ट लगा दिया गया है परन्तु जनता में अब भी आजाद पार्क नाम चालू है। क्रान्तिकारियों के प्रति श्रद्धा रखने वाले लोगों ने अपने व्यय से उस पार्क में आजाद की एक छोटी मूर्ति भी बनवा दी है।

एलफ्रेड पार्क में आजाद को अकेले लड़ते छोड़ कर भाग जाने वाला साथी सुखदेवराज था। मुझे और दूसरे साथियों को भी सुखदेव का यह काम बहुत ही निन्दनीय लगा था। राज के लिये भाग आना सम्भव इसलिये हो सका कि आजाद लड़ते रहे और

किया है कि उस समय वीरभद्र का सम्पर्क आज़ाद और हम लोगों से न रहा था। वीरभद्र स्टेशन से अपने परिचय के स्थान पर गया और नौ बजे आज़ाद तक संदेश भिजवाने के प्रयत्न के लिए एक पुराने विश्वस्त साथी के मकान की ओर निकला। तब तक एलफ्रेड पार्क में घटना हो चुकी थी। आज़ाद साढ़े आठ के लगभग एलफ्रेड पार्क में किस स्थान पर होंगे, यह सूचना वीरभद्र को किस प्रकार हो सकती थी? मैं और सुरेन्द्र पांडे आजाद के साथ ही रहते थे। रात से साथ थे। पार्क के फाटक तक साइकिलों पर उनके साथ आये थे। हमें सामने से आता राज दिखायी दिया। आजाद उसके साथ पार्क में चले गए। तब तक हमें भी मालूम न था कि वे राज से पार्क में भेंट के लिये आये हैं।

शिवचरण का हम लोगों से सम्बन्ध था और पुलिस को उस पर संदेह भी था। पुलिस रिकार्ड के अनुसार शिवचरण के मकान पर नजर रखने की ड्यूटी सी० आई० डी० कान्स्टेबल भूरेसिंह की थी। भूरेसिंह ने वैशम्पायन को शिवचरण के जीने के समीप साइकिल रखकर जीना चढ़ते देखा। वह वैशम्पायन को पहचानता न था पर उसे नौजवान की कमर में पिस्तौल या रिवाल्वर होने का संदेह हुआ। वह नौजवान की साइकिल के समीप चौकस खड़ा रहा। नौजवान लौटकर साइकिल पर चढ़ने लगा तो भूरेसिंह ने पीछे से उसे कौली में जकड़ कर पटक दिया। भूरेसिंह कद्दावर, तगड़ा अखाड़िया जवान था। वैशम्पायन औसत से छोटा कद और दुबला। भूरेसिंह ने रिवाल्वर नौजवान की कमर से खींच लिया और अकेला उसे बांह से पकड़े थाने तक ले गया। इंस्पेक्टर शम्भूनाथ ने नौजवान से प्रश्न किया—साहबज़ादे, आप के पास पिस्तौल का लाइसेंस है? आप कौन हैं? वैशम्पायन ने स्वयं ही अपना परिचय दिया। भूरेसिंह ने निशस्त्र होकर भी साहस और चातुर्य से सशस्त्र क्रांतिकारी को गिरफ्तार कर लिया था। इसके लिये उसे पदवृद्धि, स्पेशल मैडल और डबल पैंशन का पुरस्कार दिया गया था। यह रिकार्ड मौजूद है। स्पष्ट है, पुलिस वैशम्पायन को पहचानती न थी। सूचना देकर विश्वासघात की बात निराधार है।

आज़ाद के साथ निश्चय विश्वासघात हुआ, इस धारणा से भिन्न-भिन्न लोगों ने अपने-अपने पूर्वाग्रह से अनेक कल्पनायें कर ली थीं। पुराने लोगों को याद है, उस समय इलाहाबाद के कई कांग्रेसी लोगों ने स्वर्गीय रामरखसिंह सहगल, संपादक 'चांद' पर संदेह कर लिया था। हमारे साथी काशीराम ने इस संदेह के अनुमोदन में एक लेख भी लिखा है। सहगल से हमें थोड़ी-बहुत सहायता जरूर मिलती थी परंतु उन्हें हमारी गतिविधि का ज्ञान नहीं हो सकता था। वैशम्यपान आज़ाद की शहादत से कुछ दिन पूर्व गिरफ्तार हुआ था। राज घटनास्थल से सुरक्षित भाग निकला था। एलफ्रेड पार्क

की घटना से पूर्व वह दिल्ली में धन्वन्तरी की गिरफ्तारी के समय उसके साथ था। धन्वन्तरी चोट खाकर गिरफ्तार हो गया था और राज भागने में सफल हो गया था। लाहौर में वह नहर किनारे पुलिस से गोली चलने की घटना में विश्वम्भर के साथ था। विश्वम्भर शहीद हो गया और राज भाग कर बच गया। बाद में लाहौर में वह जगदीश के साथ था। पुलिस से गोली चलने पर जगदीश शहीद हो गया। राज भागने के यत्न में पकड़ा गया। कुछ लोगों ने राज पर संदेह कर लिया था परन्तु यह सब संदेह अनुमानों पर थे, इनके लिये साक्षी का प्रमाण न था, अत: असंगत थे।

वैशम्पायन और निगम आजाद की शहादत से पूर्व गिरफ्तार हो चुके थे। आजाद की शहादत की घटना के सम्बन्ध में उन्हें निजी जानकारी सम्भव नहीं है। सुरेन्द्र पांडे और मैं आजाद के साथ ही रहते थे। हम दोनों पार्क के उस फाटक तक उनके साथ गये थे। घटना के बाद भी दो दिन इलाहाबाद में ही रहे। हम दोनों जेल से मुक्ति और ब्रिटिश शासन की समाप्ति के बाद भी सभी सम्भव सूत्रों से आजाद के सम्बन्ध में पुलिस को सूचना मिलने के रहस्य की खोज करते रहे हैं। हम दोनों को वीरभद्र पर संदेह का कोई कारण नहीं मिला।

ब्रिटिश शासन की समाप्ति से वातावरण बदल गया है। पुलिस के तत्कालीन बड़े और जिम्मेवार अफसर बहुत वर्ष पूर्व रिटायर हो चुके हैं। इनमें से कुछ ने वर्तमान सरकार से भी सराहना पायी है। वे अब निम्संकोच बात कर सकते हैं। इनमें ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनका स्वयं मेरी गिरफ्तारी से और आजाद की घटना से निकट संबध था। अपनी तत्कालीन स्मृति, प्राप्त रिकार्ड और इनसे प्राप्त सूचना में संगति बैठती है। संक्षेप में एलफ्रेड पार्क की घटना इस प्रकार थी। सी० आई० डी० के डी० एस० पी० विशेश्वरसिंह और कोर्ट इन्स्पेक्टर डालचंद प्रात: सैर से पार्क में होकर उसी सड़क से लौट रहे थे जहां समीप पेड़ के नीचे आजाद और राज बैठे बतिया रहे थे। उस ओर नजर जाने पर विशेश्वरसिंह ने डालचंद से कहा—वह आदमी आजाद जैसा लगता है।

सन् १९२० में जब किशोर आजाद जोर-शोर से कांग्रेस आन्दोलन में भाग लेते थे, उन्हें बारह बेंत की सजा दी जाने के कारण बहुत लोग उन्हें जान गये थे। तब विशेश्वरसिंह बनारस में इन्स्पेक्टर था। बीच के ग्यारह वर्ष में उसने आजाद को देखा न था परन्तु आजाद की हुलिया, पुष्ट कद, गहरे सांवले चेचक से दागी चेहरे का जिक्र जगह-जगह गिरफ्तारी के लिये इनामी इश्तहारों में मौजूद रहता था। विशेश्वरसिंह ने डालचंद से कहा—कुछ दूरी से उन लोगों पर नजर रखो, हम अभी लौटते हैं।

विशेश्वरसिंह ने समीप ही सी० आई० डी० सुपरिटेंडेंट नाटबावर के बंगले पर

जाकर सूचना दी—पार्क में एक व्यक्ति बैठा है। हुलिया आज़ाद से मिलता-जुलता है।

घटना के अगले दिन प्रातः इलाहाबाद से 'लीडर' में नाटबावर का बयान प्रकाशित हुआ था। उसकी कटिंग मौजूद है। नाटबावर ने पार्क में आज़ाद की उपस्थिति का नहीं आज़ाद के हुलिये से मिलते व्यक्ति की उपस्थिति का समाचार पाना स्वीकार किया था। आज़ाद के हुलिये के संदेह में उससे पूर्व दो आदमी बहुत तैयारी से गिरफ्तार किये जा चुके थे और तहकीकात के बाद छोड़ दिये गये थे। स्वयं मेरे नाम इश्तहार के कारण भी दो बार ऐसी गिरफ्तारियां हो चुकी थीं।

सी० आई० डी० सुपरिंटेंडेंट नाटबावर घर से निकलने के लिये तैयार था। विशेश्वरसिंह ने केवल अनुमान प्रकट किया था। नाटबावर ने एक पिस्तौल जेब में ले कर गाड़ी में अपने दो निशस्त्र अर्दली साथ लिये और विशेश्वरसिंह को भी कार में ले लिया। वह कार स्वयं चला रहा था। डालचंद पेड़ की ओर नजर रखे था। नाटबावर ने पार्क में गाड़ी सड़क पर पेड़ के समीप ले जाकर रोकी। सड़क से पेड़ का अंतर पच्चीस-तीस कदम रहा होगा। पेड़ की ओर बढ़ते समय उसने पिस्तौल जेब से निकाल लिया। वह कुछ ही कदम बढ़ा था। आज़ाद ने उसे देखा और अपना पिस्तौल निकाल लिया। दोनों ओर से लगभग साथ ही गोली चली। दूसरी-तीसरी गोली में आजाद की जांघ और नाटबावर की बांह जख्मी हो गयी। राज उसी समय भाग गया होगा। दोनों ने आड़ ली। विशेश्वर निशस्त्र था। अवसर की बात उस समय कोई लाइसेंसी सरकारी खैरख्वाह दुनाली बंदूक लिये उस सड़क पर से गुजर रहा था। विशेश्वरसिंह ने उससे बंदूक ले ली और एक झाड़ी के पीछे बैठ कर आज़ाद पर गोली चलाने लगा। आज़ाद दोनों को जवाब दे रहे थे। शरीर में तीन-चार गोलियां धंस चुकी थीं। इस पर भी जब विशेश्वरसिंह ने फिर निशाना लेने के लिये झाड़ी के पीछे से सिर उठाया तो आज़ाद की गोली उसके जबड़े पर बैठी। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन आई० जी० पुलिस हालिस ने अपने संस्मरण 'नो टेन कमांडमेंटस' में ऐसी जख्मी अवस्था में धैर्य से अचूक निशाना ले सकने के लिये आज़ाद की बहुत सराहना की है। आज़ाद ने अपनी अंतिम गोली, अपने पूर्व-निश्चय के अनुसार, पिस्तौल कनपटी पर सटा कर मार ली और समाप्त हो गये।

डालचंद ने घटना के आरम्भ में ही दौड़ कर सबसे समीप के फोन से थाने को सूचना दे दी थी। घटना की समाप्ति तक पुलिस गाड़ियों पर बड़ी संख्या में पहुंच गयी। पार्क में भीड़ होती देख पुलिस आज़ाद के शरीर को उठा ले गयी। मृत व्यक्ति कौन है, यह अभी तक निश्चय न था। कई फरार साहसी लोग इस प्रकार जान पर खेल जाते हैं। तुरन्त फोन द्वारा बनारस और झांसी से ऐसे लोगों को बुलाया गया जो

आजाद को निश्चित रूप से पहचानते थे। इन लोगों द्वारा तसदीक हो जाने पर ही पुलिस ने बयान दिया। यह बयान दूसरे दिन प्रात: 'लीडर' में तथा अन्य पत्रों में प्रकाशित हुआ था। स्पष्ट है कि पुलिस को निश्चित सूचना न थी वरना नाटबावर पर्याप्त सशस्त्र सिपाहियों को साथ लिये बिना न जाता। विश्वासघात के संदेह के लिये गुंजाइश ही नहीं है।

इलाहाबाद में भैया आज़ाद की शहादत के समय कटरे के मकान में उन के साथ सुरेन्द्र पांडे, भवानीसिंह और मैं ही रहते थे परन्तु इलाहाबाद के बाहर कानपुर, मेरठ, दिल्ली आदि में दूसरे लोग भी थे। उन सब की उपेक्षा करके मैं और पांडे रूस नहीं भाग जा सकते थे। एक तरह से रूस जाने का विचार उस समय के लिये स्थगित कर देना पड़ा। नेहरू जी रुपये का प्रबंध हमारे काम में सहायता के लिये नहीं केवल रूस चले जाने के लिये ही करने को तैयार थे इसलिये शेष रुपये के सम्बन्ध में मैं शिवमूर्तिसिंह से मिला ही नहीं। मेरे पास जो हजार रुपया था वह भी साथियों की तात्कालिक व्यवस्था करने में ही व्यय होने लगा। दुर्गा भाभी या सुशीला दीदी के लिये हमें कुछ नहीं करना पड़ा क्योंकि उस समय उन से हमारा कोई सम्पर्क नहीं था। आज़ाद की शहादत को हम में से प्रत्येक व्यक्ति ने अपने निजी आत्मीय की मृत्यु के रूप में अनुभव किया। कानपूर जाकर मैंने प्रकाशवती को यह समाचार दिया तो मैं बोल ही न पा रहा था और फिर सहसा कह दिया—"मोटे भैया शहीद हो गये।" सुन कर प्रकाशवती पहले तो आंखें खुली रहते भी जैसे आदमी चेतना खो बैठे, वैसे देखती ही रह गयीं। फिर बहुत रोयीं। दल के सभी लोगों को आज़ाद से ऐसा व्यक्तिगत लगाव था जैसे केले की गहर में प्रत्येक फली बीच के डंडे से जुड़ी रहती है। अनपढ़ आज़ाद की योग्यता और उस के व्यक्तित्व का महत्व उस की अनुपस्थिति में ही मालूम हुआ क्योंकि तब दल के बचे हुये लोगों को एक साथ बनाये रखना असम्भव सा जान पड़ने लगा।

आज़ाद की शहादत के तुरन्त बाद या बहुत समय तक दल के नये नेता का निश्चय नहीं हुआ। कुछ लोग सुरेन्द्र पांडे के प्रथम लाहौर षड़यन्त्र से सम्बंधित और पुराने होने के कारण और मेरे भी दूसरों से पुराने होने के कारण आदेश और सुझाव के लिये हम लोगों की ओर देखने लगे। एक और साथी काशीराम भी उतना ही पुराना था। कैलाशपति के बयानों के कारण उस की गिरफ्तारी के भी वारंट जारी थे। प्रश्न था अब किया क्या जाये? जब भी कुछ करने का प्रश्न आता, तभी खर्च के लिये रुपये का भी प्रश्न सामने आ जाता। मैं काम के लिये जान पर खतरा लेने से तो कतरा नहीं

रहा था परन्तु डकैती नहीं करना चाहता था। उन दिनों लेनिन का जीवन चरित्र तथा कुछ और भी ऐसी पुस्तकें पढ़ ली थीं जिन के कारण मैं और पांडे इस बात पर सहमत थे कि हमें अपने गुप्त संगठन को विचारों की दृष्टि से दृढ़ और व्यापक बनाने पर अधिक महत्व देना चाहिये। कानपुर और इलाहाबाद में आज़ाद से भी इस सम्बंध में बातें होती थीं। वे भी इस बात से सहमत थे कि हमें अपना व्यापक सार्वजनिक आधार बनाना चाहिये। हम चाहते थे कि पर्चे और छोटी-छोटी पुस्तिकाएं लगातार छापने के लिये अपना एक प्रेस बनाया जाय। उस प्रेस के सभी कर्मचारी अपने साथी हों। इस से साथियों के लिये शेल्टर और निर्वाह की समस्या भी किसी हद तक हल हो सके परन्तु मेरे इस सुझाव के प्रति दूसरों में कोई उत्साह नहीं दिखाई देता था। शायद वे इसे जिम्मेवारी टालना समझ रहे थे। कार्यक्रम के विषय में सहमत हो जाने पर भी यह प्रश्न तो सब के सामने था कि हम किस का निर्देश मानें या दूसरे हमारा निर्देश क्यों न मानें ? पुन: संगठन तो सभी चाहते थे परन्तु संगठन किस के निर्देश से होता ? उस बीच मैं काशीराम और भवानीसहाय आदि से सम्पर्क स्थापित करने मेरठ चला गया। कानपुर के कुछ साथी और भवानीसिंह आदि सुरेन्द्र पांडे के सम्पर्क में थे।

भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु की शहादत

२३ मार्च १९३१ को लाहौर जेल में भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को फांसी पर लटका दिया गया। इस अवसर पर देश भर में व्यापक शोक हड़तालें हुईं। इस समय तक ब्रिटिश साम्राज्यशाही, मुस्लिम लीग और कांग्रेस में काफी गहरी फूट डलवा चुकी थी। मुसलमानों में यह धारणा खूब गहरी पैठ चुकी थी कि कांग्रेस हिन्दू राज चाहती है। मुस्लिम लीग और साम्प्रदायिक मुसलमान कांग्रेस की प्रतिद्वंद्विता में पीछे रह जाने से, अंग्रेजों की शह पाकर राष्ट्रीय भावना को ठुकराने में ही संतोष पाते थे। इन शहीदों के शोक में हड़ताल कराने के लिये कानपुर में कांग्रेस ने प्रमुख भाग लिया था। पुलिस के भड़काने से कुछ मुसलमान कांग्रेस की अवज्ञा करने के लिये उसमें सहयोग नहीं देना चाहते थे। ऐसा व्यवहार ब्रिटिश सरकार के कृपापात्र बनने का भी सरल उपाय था। सर्वसाधारण जनता की दृष्टि में इस हड़ताल में सहयोग न देना देश के शहीदों की उपेक्षा करना था। जनता अपने मान्य शहीदों का ऐसा अपमान सह न सकती थी। हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया।

श्रद्धेय गणेशशंकर जी विद्यार्थी हिन्दू बस्ती में फंसे कुछ मुसलमानों की रक्षा के लिये गये थे। वहां कुछ अनजान या साम्प्रदायिकता में अन्धे मुसलमानों ने ही उन्हें छुरी भोंक कर शहीद कर दिया। फिर क्या था, दंगे ने वह रूप लिया कि उसे संभाल सकना पुलिस के बूते के बाहर की बात हो गयी। एक दिन के बजाय कानपुर में पूरे पन्द्रह दिन कोई दुकान न खुल सकी। कानपुर के हिन्दू-मुसलमानों को कई बरस के लिये नसीहत हो गयी।

इस दंगे का समाचार मुझे मेरठ में मिला था। दिल्ली आया तो और भी भयंकर समाचार मिले। प्रकाशवती तब कानपुर की प्रेमनगर बस्ती के एक मकान में थीं। मैं तुरन्त कानपुर के लिये चल पड़ा। सुबह सूर्योदय से कुछ पहले ही कानपुर पहुंचा। स्टेशन से बाहर निकलने पर देखा कि साधारणत: वहां बनी रहने वाली भीड़ और

चहल-पहल की जगह मरघट सा सन्नाटा था। गाड़ी से बहुत कम मुसाफिर उतरे और जो उतरे अधिकांश स्टेशन पर ही ठिठके रहे। बाहर केवल पांच-सात इक्के खड़े थे। मैं जब तक पहुंचा पहले आने वालों ने इक्के ले लिये थे। अब एक ही इक्का शेष था। इसे मैंने प्रेमनगर चलने के लिये कहा। मुझे पोशाक से हिन्दू समझ कर इक्के वाले ने कहा, "साहब, मैं बांसमण्डी से घूम कर (अर्थात मुस्लिम बस्ती में से होकर) चलूंगा।" वह मुसलमान था।

मैंने पूछा, "इतना चक्कर देने की क्या जरूरत है?" उसने साफ कह दिया कि हिन्दू बस्ती से होकर जाने की उसमें हिम्मत नहीं है। सोचा, जब इसे हिन्दू इलाके से भय है तो मेरा हिन्दू पोशाक में मुस्लिम इलाके में जाना कौन बुद्धिमत्ता होगी। यह भी समझ लिया कि स्थिति बहुत खराब है। पैदल ही चला। प्रेमनगर तक जाने में तो हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही बस्तियों से गुजरना पड़ता था। जाये बिना भी नहीं रह सकता था। अभी सूर्य नहीं निकला था। छोटा सा बिस्तर बगल में दबाये चल पड़ा। बहुत चौकन्ना, पुलिस से लड़ने के लिये तो मैं तैयार था परन्तु हिन्दू-मुस्लिम दंगे में शहीद हो जाने के लिये नहीं। यह दंगे का पांचवां दिन था परन्तु पुलिस का पहरा केवल मुख्य चौराहों पर ही था। पुलिस को स्वयं भय था या अंग्रेज सरकार ने हिन्दू-मुसलमानों को एक-दूसरे का बैरी बन जाने की छूट दे दी थी। हालसी रोड के आखिरी हिस्से और जनरलगंज से गुजरते हुये बराबर पिस्तौल पर हाथ चला जाता था परन्तु हुआ कुछ भी नहीं।

प्रेमनगर में पहुंच कर मकान में ताला पड़ा पाया। ताला अपना ही था। समझा कि इस मकान से तो प्रकाशवती अपनी इच्छा से ही गयी होंगी पर होंगी कहां? दस बजे लेदर वर्किंग स्कूल खुलने पर चौधरी रामधनसिंह से ही पूछा जा सकता था। मैं अनुमान से स्कूल के बोर्डिंग की ओर गया। रामधन मिल गये। पता लगा, प्रेमनगर में बहुत भय था। समीप जनरलगंज से दंगे की दूसरी रात मुहल्ले पर मुसलमानों की भीड़ चढ़ आयी थी। चौधरी और प्रकाशवती दोनों के ही कलेजे साम्प्रदायिक दंगे के शहीद बन जाने के भय से कांप रहे थे। घर में पिस्तौल और एक मौजर राइफल भी थी। उन्होंने हिम्मत की। छत पर चढ़ कर दो फायर कर दिये और ललकारा, सबको भून डालेंगे! भीड़ छंट गयी। अब भीड़ के साथ पुलिस का भी डर हो गया। दूसरे दिन वे लोग सुबह ही वहां से निकल गये। प्रकाशवती को भी सब हिन्दू स्त्रियों के साथ एक कोठरी में बन्द हो जाना पड़ा। बाद में यह किस्सा सुना-सुना कर वे खूब हंसा करती थीं। इस दंगे के बाद कानपुर की अवस्था सुधरने में कई दिन लगे।

१९२९-३० और ३१ में 'इन्कलाब जिन्दाबाद' और 'भगतसिंह की जय', 'गांधी

जी की जय' से कम सुनायी नहीं देती थी। कांग्रेस के सर्वसाधारण लोगों की गांधी जी से यह मांग थी कि सरकार से समझौते की शर्तों में भगतसिंह और उसके साथियों की फांसी की सजा रद्द की जाने की मांग भी रखी जाय। गांधी जी ने इस मांग को समझौते की शर्त बनाने से इन्कार करके इस प्रसंग में वायसराय से केवल प्रार्थना भर करना ही स्वीकार किया। जो भी हो, जनता को बहुत आशा थी कि उसकी भावना की उपेक्षा नहीं की जायगी। भगतसिंह आदि की फांसी की सज़ा मनसूख हो जायगी। अंग्रेज़ सरकार ने भी इस प्रश्न को अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया था। भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को फांसी दे दी जाने पर जनता को बहुत आघात पहुंचा। सर्वसाधारण जनता को इस बात से भी विकट क्षोभ हुआ कि गांधी जी ने इन शहीदों को फांसी न दी जाने के प्रश्न को उचित महत्व नहीं दिया।

इस विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि गांधी जी ने इस समझौते के लिये जो ग्यारह शर्तें वायसराय के सामने पेश की थीं, उनमें एक शर्त देश भर में शराब निरोध की भी थी पर भगतसिंह आदि को फांसी न दिये जाने की नहीं। गांधी जी शराब निषेध के लिये सरकारी भक्ति से जनता पर दबाव डालना नैतिक समझते थे परन्तु भगतसिंह आदि की फांसी रद्द करने के लिये विदेशी सरकार पर जनमत का दबाव डालना अनैतिक समझते थे। मार्च १९३१ के अन्त में कांग्रेस का अधिवेशन कराची में हुआ था। उस समय जनता गांधी जी द्वारा भगतसिंह और उसके साथियों की उपेक्षा के लिये अपना क्षोभ प्रकट किये बिना न रह सकी। इन शहीदों के शोक में कांग्रेस में गांधी जी को काले झंडे दिखाये गये और काले फूल भी पेश किये गये। गांधी जी ने विनय से काले फूलों को स्वीकार कर मान लिया कि वे भगतसिंह को बचाने में असमर्थ रहे। सर्वसाधारण के लिये यह समझ सकना कठिन है कि जन-भावना के प्रतीक बन चुके भगतसिंह आदि की प्राण-रक्षा को समझौते की शर्त बनाने में गांधी जी असमर्थ क्यों थे। इस कांग्रेस अधिवेशन में पंडित नेहरू ने नवयुवकों और उग्र लोगों के संतोष के लिये राष्ट्र के उद्योग-धन्धों और पैदावार के मुख्य साधनों के राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव भी रखा था। १९४७ से कांग्रेस के शासन की बागडोर सम्भाल लेने और नेहरू जी के स्वयं उसके प्रधानमंत्री बन जाने पर उन्हें १९३१ के प्रस्तावों की मांगें उस अनुपात में अव्यवहारिक और क्रियात्मक जल्दबाज़ी जाने पड़ने लगीं। १९६९ में कांग्रेस के दो दल बन जाने पर, जनमत को आकर्षित करने की प्रतिद्वन्द्विता में फिर समाजवादी व्यवस्था के नारे दिये जाने लगे।

जनता का मन विदेशी सरकार के प्रति दारुण और असमर्थ घृणा से भर गया। प्रतिक्रिया में भगतसिंह और उसके साथियों को प्रतिहिंसा में बर्बरता से फांसी पर

लटकाने के, इन शवों का अनादर करने के और इन शहीदों के साहस के बहुत से अतिरंजित वर्णन भी जनता में फैल गये। लोग सरकार के प्रति घृणा, क्रोध ओर शहीदों के प्रति आदर प्रकट करने के लिये इन बातों को खूब बढ़ा-चढ़ा कर कहते थे। सुनने वाले कुछ और बढ़ा कर दूसरों को सुना देते।

अवसरवश दूसरे लाहौर षड़यन्त्र के अभियुक्त सरदारसिंह, जहांगीरीलाल, जयप्रकाश, धर्मपाल आदि इन साथियों की फांसी के समय लाहौर सेन्ट्रल जेल में ही थे। इन लोगों की कोठरियां भी फांसी पाने वालों की कौठरियों और फांसी घर के समीप ही थीं। कभी-कभी सामना और बातचीत का अवसर भी हो जाता था। अपनी अपनी कोठरियों से भी पुकार कर बातचीत हो सकती थी। वार्डरों और पहरेदारों की मारफत संदेश और खाने की चीजें लेते-देते रहते थे। इन लोगों का कहना है कि भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु तीनों ही अन्तिम दिन तक पूर्ण रूप से स्वस्थ मानसिक अवस्था में थे। उन्हें संतोष था कि वे अपने उद्देश्य के लिये बलिदान हो रहे हैं। फांसी की कोठरी में भगतसिंह को केवल एक बात से कलख हुआ था। वह थी, उसके पिता सरदार किशनसिंह का पुत्र की प्राणभिक्षा के लिये अंग्रेज गवर्नर की सेवा में प्रार्थना-पत्र भेजना। गवर्नर ने तो वह प्रार्थना नामंजूर कर ही दी थी परन्तु भगतसिंह को यह बात बहुत अपमानजनक लगी थी। यह बात सुनकर उसने खिन्नता से कहा था—"My father has stabbed me in the back" (पिता ने ही मेरी पीठ में छुरी भोंक दी)।

इन लोगों की फांसी के लिये २४ मार्च, १९३१ तारीख निश्चित हुई थी। अंग्रेज सरकार को आशंका थी कि इस अवसर पर जनता जेल के सामने बहुत बड़ा प्रदर्शन करेगी और सम्भव है इन शहीदों के शव मांग कर उसका बहुत बड़ा जुलूस निकाला जाये। यह सब सरकार विरोधी भावना का ही प्रदर्शन होता। इन सम्भावनाओं का प्रतिकार करने के लिये गवर्नर की अनुमति से यह काम कुछ पहले ही निबटा देना उचित समझा गया।

२३ मार्च को दूसरे लाहौर षड़यन्त्र के अभियुक्तों को दोपहर बाद ही अदालत से लौटा लिया गया। तीन-चार बजे सभी कैदियों को बारकों और कोठरियों में बन्द कर दिया गया। सफाई-झड़ाई होने लगी। भगतसिंह के सबसे समीप धर्मपाल की ही कोठरी थी। भगतसिंह ने अपनी कोठरी से पुकार कर पूछा—"धर्म, आज तुम लोग अदालत से इतनी जल्दी क्यों आ गये?"

धर्मपाल ने उत्तर दिया—"लोग कहते हैं कि जेलों के बड़े इन्स्पेक्टर और डिप्टी कमिश्नर वगैरा मुआइने के लिये आ रहे हैं।"

भगतसिंह ने कहा—"अरे भोले लोगों, हम ही यह मुआइना करने जा रहे हैं।"

उसी समय इन तीनों को नहाने के लिये पानी दे दिया गया। जेल का कायदा है कि मृत्यु दण्ड पाने वाले को फांसी के तख्ते की ओर ले जाने से पहले नहाने के लिये पानी दे दिया जाता है। भगतसिंह को जेल के अधिकारियों में से ही किसी ने पहले सूचना दे दी होगी। जेल के निरीक्षण की बात पर मजाक करते हुये भगतसिंह ने धर्मपाल से यह भी कहा था—"...तुम लोगों ने जो मीठे चावल भेजे थे, हम लोगों ने खा लिये। न खाते तो ठीक रहता।" फांसी के लिये निश्चित सुबह से पहली रात दण्ड पाने वाले प्राय: निराहार रह जाते हैं ताकि फांसी के झटके से मल-मूत्र निकल जाने की सम्भावना न रहे। जयप्रकाश वगैरह ने उससे स्मृति के लिये कुछ चीजें मांग रखी थीं। भगतसिंह ने कुछ समय पूर्व ही अपनी सभी चीजें, हजामत का सामान, पेंसिल, बटन से लेकर दियासलाई की खाली डिबिया तक बांट दी थीं परन्तु बड़े अफसरों को सन्देह न होने देने के लिये चुप था।

सुखदेव की कोठरी से 'इन्कलाब जिन्दाबाद' की ऊंची पुकार सुनायी दी और झगड़ा होता जान पड़ा। मालूम हुआ कि उसे हथकड़ी लगायी जा रही थी और वह विरोध कर रहा था। फांसी के लिये ले जाते समय कैदियों के हाथ पीठ पीछे बांध देने का कायदा है। जेल के सबसे बड़े और बूढ़े वार्डर चतरसिंह ने भगतसिंह से प्रार्थना की कि हम पर ही रहम कीजिये। हथकड़ी लगाने का हुक्म मिला है और यह कायदा है, मान जाइये! भगतसिंह के कहने पर राजगुरु और सुखदेव ने हथकड़ियां लगवा लीं। भगतसिंह ने साथियों को पुकार कर कहा—"अच्छा भाई, चलते हैं।"

दूसरे साथियों ने अपनी कोठरियों से 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे लगाने शुरू किये। अनुकरण में जेल भर के कैदी नारे लगाने लगे। इन नारों की आवाजें जेल के बाहर समीप ही पंडित के० संत्तानम के बंगले तक पहुंच रही थीं। उन्होंने नारों के कारण का अनुमान कर सरदार किशनसिंह को टेलीफोन कर दिया। नारे बन्द हो गये। लोग फांसी का तख्ता गिरने की आहट सुन पाने के लिये सांस रोके चुप थे। धर्मपाल का कहना है कि उसकी घड़ी के हिसाब से संध्या ७ बजकर २३ मिनट पर फांसी का तख्ता गिरने की आहट आयी। पूरा जेल फिर 'इन्कलाब जिन्दाबाद', 'भगतसिंह जिन्दाबाद', 'सुखदेव जिन्दाबाद', 'राजगुरु जिन्दाबाद' के नारों से गूंज उठा। इन नारों की गूंज के कारण आध घंटे तक हमारे साथी आपस में बात न कर सके। जेल अफसरों ने हमारे साथियों को बताया कि फांसी के तख्ते पर पहुंच कर भगतसिंह ने सुपरिन्टेन्डेन्ट से अनुरोध किया कि आप दो मिनट का अवकाश दें ताकि हम संतोष से नारे लगा सकें। आशा है आप हमारी इतनी बात मान लेंगे।

सुपरिन्टेन्डेन्ट मौन स्वीकृति में खड़ा रहा। तीनों ने एक साथ नारे लगाये—

Long live revolution—इन्कलाब-जिन्दाबाद !

Down with imperialism—साम्राज्यवाद का नाश हो !

उस दिन पूरे जेल के कैदियों ने खाना नहीं खाया। सम्भव है जेल के हिन्दुस्तानी अफसर, सरकारी ड्यूटी पूरी करते हुये भी, मन में चोट या ग्लानि अनुभव कर उस दिन खाना न खा सके हों या उन्होंने दुख अनुभव किया हो। जेल का दारोगा खान साहिब मुहम्मद अकबर फांसी के दो-तीन दिन बाद सरदारसिंह आदि से मिला तो अपने आप ही जिक्र किया—नौकरी की गुलामी में सरकारी हुक्म तो पूरा करना ही पड़ा लेकिन तबियत परेशान है। खाना सामने आता है तो जहर मालूम होता है। लानत है इस खाने पर जिसके लिये यह गुलामी करनी पड़ रही है। यह पंक्तियां लिखते समय एक बात याद आ गयी—१६३० में पेशावर में सरकारी हुक्म से जनता पर गोली चलाने से इन्कार करने वाले गढ़वाली सिपाहियों की गांधी जी ने निन्दा की थी क्योंकि वे सिपाही गांधी जी के विचार में कर्तव्य से च्युत हो गये थे। लाहौर जेल में हिन्दुस्तानी सिपाहियों और अफसरों ने भगतसिंह आदि को फांसी पर लटका देने की आज्ञा तो पूरी की परन्तु उन्होंने इसके लिये जो दुख अनुभव किया गांधी जी की दृष्टि में वह पाप ही था। अर्थात गांधी जी के अनुसार मानवता और राष्ट्रीय भावना की अपेक्षा मालिक की गुलामी निबाहना ही बड़ा धर्म है।

यह आशा नहीं थी कि सरकार शहीदों के शवों का प्रदर्शन और उचित सत्कार करने के लिये इन के शरीर उन के सम्बंधियों को दे देगी। लोग इस बात के लिये भी बहुत आशंकित थे कि सरकार इन शरीरों को कहीं दूर ले जाकर इन के प्रति उपेक्षा या निरादर का व्यवहार न करे इसलिये लोग लाहौर से बाहर जाने वाली सभी सड़कों पर चौकसी रखे हुये थे। फिरोजपुर जाने वाली सड़क पर भगतसिंह की बहिन अमरकौर कुछ साथियों के साथ थीं। आधी रात के लगभग पुलिस की लारियों को फिरोजपुर की तरफ जाते देख इन लोगों ने अनुमान कर लिया कि शहीदों के शव सतलुज नदी की ओर, लाहौर से लगभग साठ-पैंसठ मील दूर ले जाये जा रहे हैं। दिन निकलने तक बहुत से लोग सतलुज के रेल-पुल पर पहुंच गये। वहां तीन चितायें जल रही थीं परन्तु पुलिस लौट चुकी थी। संध्या तक वहां खूब भीड़ लग गयी। उस स्थान से चिताओं की राख या अस्थियां आदि जो कुछ भी मिला, लोग श्रद्धा से उठा ले गये। बाद में मार्च १६४७ तक वहां प्रतिवर्ष मेला लगता रहा। अब वह भाग पाकिस्तान में है।

कुछ ऐसी अफवाहें भी फैली थीं कि पुलिस ने इन शहीदों के मृत शरीरों के साथ

भी प्रतिहिंसा का व्यवहार किया था अर्थात शरीरों को चिता पर भस्म करने के पहले उनके टुकड़े कर दिये गये थे और हिन्दू रीति या प्रथा को पूरा नहीं निबाहा गया था। अफवाहों के निराकरण के लिये सरकार ने उसी रात विज्ञप्ति प्रकाशित की थी कि भगतसिंह का अन्त्येष्टि संस्कार सिख विधि से करने के लिये एक ग्रंथी (सिख पुरोहित) तथा सुखदेव और राजगुरु के लिये एक ब्राह्मण पुरोहित को नियुक्त किया गया था। उनकी चिताएं भी नदी के किनारे उचित स्थान पर बनायी गयी थीं। सरकार द्वारा अनुष्ठान में जनता को श्रद्धा भावना की आशा तो हो नहीं सकती थी परन्तु जो लोग अंग्रेजी सरकार के ढंग से परिचित हैं, उन्हें शहीदों का अंगच्छेद किया जाने की बात पर विश्वास न होगा। आखिर सरकार को इसकी जरूरत क्या थी? अंग्रेज शासक इस बात के लिये सदा सतर्क रहते थे कि वे बर्बर न समझे जायें या जनता की उत्तेजना के लिये अनावश्यक कारण न बन जायें। वे न्याय और कानूनी नैतिकता का आडम्बर कायम रखते थे। भारतीय पुलिस और सेना पर नैतिक प्रभाव बनाये रखने के लिये ऐसा व्यवहार आवश्यक था और सहायक भी।

कुछ और भी ऐसी असंगत अफवाहें फैलायी गयीं थीं जिनसे इन शहीदों के मनुष्येतर होने की भावना झलकती है। उदाहरणत: फांसी की कोठरी में प्रसन्नता से उनका वजन बहुत अधिक बढ़ जाना और उनका फांसी के तख्ते पर कूद जाने के लिये व्याकुल और आतुर रहना। जेल का अनुभव पाये लोग प्राय: जानते हैं कि फांसी की कोठरी में अस्सी-नब्बे प्रतिशत लोगों का वजन बढ़ जाता है। इसके कारण शारीरिक हैं, फांसी की कोठरी में बंद व्यक्ति को कुछ दिन का मेहमान मान कर खाना अपेक्षाकृत अच्छा दिया जाता है। उन्हें नित्य आध सेर दूध भी दिया जाता है। उन्हें जेल के काम की मेहनत करनी नहीं पड़ती। फांसी के भय का आतंक तो सजा पाने वाले पर सबसे अधिक तभी होता है जब पहले-पहल सेशन अदालत से फांसी का हुक्म होता है। उसके बाद हाईकोर्ट से भी सजा बहाल रहने पर गवर्नर के यहां दया की प्रार्थना कर दी जाती है। प्रार्थना अस्वीकृत हो जाने पर भी निर्णय या फांसी की तारीख अपराधी को बतायी नहीं जाती। बस रात भर पहले, बल्कि घंटे-दो-घंटे पहले जब उसे तोल कर देखा जाता है या नहा धोकर भगवान का नाम लेने के लिये कहा जाता है, तभी वह जान पाता है कि उसका अन्त समय आ गया है।

प्राय: ही लोग फांसी की कोठरी में छ: महीने या साल भर तक प्रतीक्षा में बन्द रह जाते हैं। मानसिक रूप से इस अवसर के लिये तैयार भी हो ही जाते हैं। सौ में से दस-पांच ही ऐसे निकलते हैं जो फांसी के तख्ते की ओर ले जाये जाते समय रोते या चिल्लाते हैं या जिन्हें खींच कर ले जाना पड़ता है। अकसर अभियुक्त राम-राम

या अल्लाह-अल्लाह पुकारते स्वयं ही उस ओर चले जाते हैं। कत्ल के कुछ अपराधी ऐसे भी आ जाते हैं जो निर्भय प्रवृत्ति के कारण अन्त समय तक हंसते या गाते रहते हैं। ये ऐसे लोग होते हैं जो स्वभाव से अपराधी प्रवृत्ति के नहीं होते परन्तु आत्म-सम्मान या अपने विश्वास से कर्त्तव्य की भावना से कत्ल कर बैठते हैं परन्तु ऐसे लोगों की कर्त्तव्य भावना नितांत वैयक्तिक होती है। सामाजिक या राष्ट्रीय नहीं।

भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु के फांसी की कोठरियों में रहते समय भी उनके पड़ोस में एक ऐसा ही व्यक्ति केसरसिंह नाम का था। इन लोगों के फांसी की कोठरियों में जाने के समय केसरसिंह वहां पहले से मौजूद था। उस पर अपने बहनोई और गांव के नम्बरदार के कत्ल का मुकदमा था। पुलिस लाशें नहीं पा सकी थी इसलिये केसरसिंह को हाईकोर्ट से छूट जाने की आशा थी। वह सब से कहा करता था—अभी मुझे एक कत्ल और करना है। लौट कर फांसी चढ़ूंगा। केसरसिंह छूट गया और सचमुच दो मास बाद नायब थानेदार का कत्ल करके फिर लौट आया। सेशन ने उसे फिर फांसी की सजा का हुक्म दे दिया। इस बार वह हाईकोर्ट में अपील नहीं करना चाहता था। उसकी इच्छा के विरुद्ध उसकी चाची की प्रार्थना पर अपील कर दी गयी। लाश इस बार भी नहीं मिली थी। सम्भव था कि छूट जाता। केसरसिंह ने दर्खास्त दे दी कि मैं कुछ कत्लों और लाशों का भेद पुलिस को देना चाहता हूं। पुलिस उसे बेड़ियां पहना कर पहरे में ले गयी। केसरसिंह ने अपने तीनों कत्लों की लाशें बरामद करवा दीं और अदालत में कत्ल कबूल कर लिये। वह फिर फांसी की कोठरी में आ गया। उसे आतशिक, सुजाक की विकट बीमारियां थीं। फांसी की कोठरी में दिन भर निर्लज्ज और अश्लील गीत ऊंचे स्वर में गाया करता था। शायद फांसी पर चढ़ कर शांति पा जाने के लिये बेचैन था। एक दिन उसे हमारे साथियों ने समझाया—"तू इतना बहादुर आदमी है, ऐसे गंदे गीत तुझे शोभा नहीं देते।"

केसरसिंह ने पूछा—"तो फिर क्या गाया करूं ? कुछ तो गाऊं कि समय कटे!"

साथियों ने कहा—"भाई, तू और कुछ नहीं समझता तो भगवान या वाहगुरु का ही नाम लिया कर! गन्द तो न बका कर!"

केसरसिंह इन लोगों की बात मानता था। उसने समझौता कर लिया—"बहुत अच्छा, अब मैं गाया करुंगा—मौला मैं कुक्कड़ खादे तेरे, तू बक्ष दे औगुन मेरे।" (हे मालिक, मैंने तेरे बहुत से मुर्गे खाये हैं, तू मेरे अपराध क्षमा कर)। केसरसिंह फांसी की ओर जा रहा था तब भी यही गीत गा रहा था।

केसरसिंह जैसे लोगों की मानसिक अवस्था स्वस्थ और सम नहीं समझी जा सकती। ऐसे लोग अपने जीवन से खिन्न होकर मृत्यु से शान्ति की आशा करते हैं।

ऐसे लोगों की मानसिक प्रकृति को वीरता नहीं कहा जा सकता । जीवन से उपराम होकर शांति के लिये मृत्यु की शरण चाहना वीरता नहीं हैं। भगतसिंह और उस के साथी न जीवन से खिन्न थे और न उन की मानसिक अवस्था विकृत थी, न वे जीवन से घबरा कर शांति के लिये मृत्यु चाहते थे । उन का लक्ष्य मानवता का कल्याण था । मानवीय अधिकारों को पाने का कर्तव्य पूरा करने के लिये उन्होंने मृत्यु को स्वीकार किया था । इस परिस्थिति का सामना उन्होंने स्वस्थ, सम मानसिक अवस्था से किया । यही उन की वीरता थी ।

इन तीनों शहीदों की एक दूसरे से किसी प्रकार की तुलना करना उचित नहीं जंचता परन्तु औचित्य के विचार से ही कहना पड़ता है कि सुखदेव के साथ अन्याय हुआ है । उस की भावना को ठीक से समझा नहीं गया । उस के और दूसरे साथियों के दृष्टिकोण में अन्तर होने से उस का व्यवहार भी कुछ विचित्र होता था । पहली बात थी, सुखदेव का गिरफ्तारी के बाद कुछ बयान दे देना । इसी बात से उस के और दूसरे साथियों के व्यवहार में अन्तर आ गया । बाद में भी उस की भावना की ओर ध्यान न देकर उस के व्यवहार की भिन्नता की ओर ही ध्यान जाता रहा । सुखदेव के अन्त तक के पूरे व्यवहार को देख कर ही उसे ठीक समझा जा सकता है । फांसी के दिन सुखदेव के व्यवहार से स्पष्ट है कि वह साहस में किसी की अपेक्षा कम नहीं बल्कि कुछ अधिक उग्र ही था । शत्रु पक्ष से किसी प्रकार के सौजन्य की आशा करना या उन के प्रति सौजन्य दिखाना उस के स्वभाव में न था । मुकदमे के विषय में भी उस का व्यवहार और दृष्टिकोण ऐसा ही था । दूसरे साथियों का विचार था कि यदि मुकदमे और कानून के दांव-पेंचों से दण्ड से बचा जा सकता है तो क्यों न बचा जाये । सुखदेव को मुकदमा लड़ना भी शत्रु से एक प्रकार का सहयोग ही जान पड़ता था । उस का दृष्टिकोण था—विदेशी सरकार से हमारी लड़ाई है । हम लड़ रहे हैं । उन्हें जो करना है, कर लें ! उस का आरम्भिक बयान अपने काम की स्वीकृति के रूप में इसी भावना का परिणाम था । उस के दृष्टिकोण में चाहे गलती हो परन्तु कायरता या जान बचाने की भावना नहीं थी ।

पुनः संगठन का प्रयत्न

कुछ सहायक

मैं दिल्ली आने-जाने लगा था। महाशय कृष्ण जी को रुपये-पैसे के लिये फिर परेशान कर रहा था। खास कर मैं दल के नाम पर लिया रुपया व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिये खर्च नहीं करना चाहता था पर 'यह लक्ष्मण रेखा' निभती नहीं थी क्योंकि व्यक्तिगत उपयोग के नाम पर लिया रुपया ही अधिकांश में दल के काम में लग जाता था। एक दिन कृष्ण जी ने हाथ जोड़ कर कहा—"महाराज, दो नये भक्तों से परिचय करा देता हूं। अब मेरी जान छोड़ो।"

कृष्ण जी की पत्नी के भाई ध्रुवदेव हमारी वजह से एक बार हवालात काट आने पर भी सहायता करते ही रहते थे। अब कृष्ण जी ने अजमेरी दरवाजे के भीतर रौशन थियेटर के समीप की गली में रहने वाले एक सज्जन प्रभुदत्त से परिचय करा दिया। प्रभुदत्त का अपना खूब बड़ा मकान था। सम्पन्न परिवार था। उन दिनों वे शौकिया हवाई जहाज उड़ाना सीख रहे थे। बाद में वे सब से पहले और मुख्य भारतीय सिविल पाइलेट बन गये थे। प्रभुदत्त की सहायता की कोई सीमा नहीं थी। उन के पास अपनी छोटी मोटर थी। जहां कहीं मुझे जाना होता वे प्रायः ही पहुंचा देने के लिये प्रस्तुत रहते। यदि कभी स्वयं साथ जाने में खतरा समझते तो कह देते—'तुम गाड़ी ले जाओ। पकड़े जाओगे तो कह दूंगा, मेरी गाड़ी चोरी हो गयी है। जहां तुम्हारे खिलाफ इतने मुकदमे हैं, मोटर चोरी का एक और मुकदमा सही!' उन्हें यह भी मालूम था कि लाहौर और देहली षड़यन्त्र के मुकदमों में हमारे कुछ साथियों ने मुखबिर बन कर दल को सहायता देने वाले कई लोगों को संकट में डाल दिया था इसलिये वे चाहते थे कि मैं उन का परिचय दल के किसी दूसरे आदमी को न दूं। मैंने भी उन के इस अनुरोध का अक्षरशः पालन किया।

प्रभुदत्त ने चांदनी चौक से जामा मस्जिद की ओर जाने वाली परेड के साथ की सड़क पर ऊंचे मकानों के पीछे, गली में मेरे लिये दूसरी मंजिल पर एक जगह ढूंढ़ दी और मकान का किराया भी दे दिया था। मैं प्रकाशवती को भी यहां ही ले आया। यहां हमारे रहने का ढंग ऐसा था कि मकान छोड़ जाने के बाद भी कभी किसी को कुछ सन्देह नहीं हुआ। प्रभुदत्त मेरे गिरफ्तार हो जाने के बाद भी प्रकाशवती की सहायता करते रहे थे।

प्रभुदत्त पाइलेट बन गये थे। हिमालयन एयरवेज में उन्होंने पंडित नेहरू को भी कई बार सफर कराया था। मुझे भी एक बार हवाई जहाज का परिचय देने के लिये दिल्ली और मथुरा के ऊपर काफी समय तक उड़ा कर दिखा दिया था। हवाई जहाज का यह मेरा पहला अनुभव था। प्रभुदत्त के भाई ब्रह्मदत्त भी पाइलेट बन गये थे। उस समय ऊंची योग्यता का पहला भारतीय पाइलेट प्रभुदत्त ही था। सुना है, अंग्रेज पाइलेट उन से ईर्षा भी कम नहीं करते थे। एक दिन दोनों भाई कराची से दो अलग-अलग हवाई जहाजों में देहली और लाहौर जा रहे थे। रास्ते में दोनों हवाई जहाजों में आग लग गयी और दोनों भाई जहाजों के साथ समाप्त हो गये। लोगों को यह सन्देह हुआ कि यह घटना किसी कुचक्र का परिणाम थी। पहले मालूम न था कि प्रभुदत्त किस जहाज में जायेगा इसलिये शायद कुचक्र रचने वालों ने दोनों ही जहाजों में निश्चित समय पर आग लग जाने की व्यवस्था कर दी थी। प्रभुदत्त जैसे सहृदय और साहसी व्यक्ति कम ही देखने में आये हैं।

कृष्ण जी द्वारा पाया दूसरा सम्पर्क था सुमित्रा दीदी। सुमित्रा दिल्ली के प्रसिद्ध ठेकेदार नारायणदत्त जी की पुत्री हैं। नारायणदत्त जी पुराने कांग्रेसी थे। बड़े-बड़े कांग्रेसी नेता उन्हीं के यहां आतिथ्य ग्रहण करते थे। सुमित्रा भी खद्दर पहनती थीं। एम० ए० श्रेणी में पढ़ रही थीं। उन से कुछ सैद्धान्तिक बातचीत भी होती रहती थी। उन का कहना था—देशभक्ति या देश में समाजवाद और स्वतंत्रता के लिये जान देना तो ठीक ही है परन्तु बम और पिस्तौल लेकर हिंसा करना ठीक नहीं है। आर्थिक सहायता वे बड़ी उदारता से करती थीं परन्तु यह भी कह देतीं—"भैया यह पैसा किसी की जान लेने में खर्च न हो।" साधारणत: उन का ऐसा ही व्यवहार था। एक दिन स्वयं मोटर में जाते समय उन्होंने मुझे दिल्ली में कहीं पैदल जाते देख लिया था। मिलने पर टोका—"उस दिन तुम फलानी जगह भीड़ में पैदल जा रहे थे न ?...कोई पहचान कर पीछा कर लेता तो ?"

उत्तर दिया—"साइकल है नहीं। हर समय टांगा किराये पर लेने के लिये पैसा पास नहीं रहता। टांगे से तो पैदल अच्छा। जब चाहें किसी गली में खिसक जायें।"

बोलीं—"अभी हमारे घर चलो। रुपया लेकर अभी साइकल खरीद लो।"

सुमित्रा दीदी और हमारे परिचितों की आशंका ठीक ही थी। उन दिनों दिल्ली षड़यन्त्र का मामला जोरों पर चल रहा था। अदालत में दिये कैलाशपति के बयान अखबारों में छपते रहते थे। आजाद, भगवतीचरण और यशपाल की बहुत चर्चा थी। आजाद और भगवतीचरण दोनों शहीद हो चुके थे, रह गया था यशपाल। यशपाल के सम्बन्ध में पुलिस की धारणा क्या थी, इसकी चर्चा हालिंस के संस्मरण में इन शब्दों में है:—'आजाद की मृत्यु के बाद दल के दूसरे साथी ने तुरन्त उसकी जगह ले ली जो और भी अधिक दुस्साहसी और निर्मम निकला…।'

पंजाब और देहली पुलिस की ओर से इनाम के खूब बड़े-बड़े इश्तहार फरार क्रान्तिकारियों की गिरफ्तारी कराने के लिये सभी डाकखानों, रेलवे स्टेशनों और शहर के मुख्य स्थानों आदि में लगे हुये थे। इन इश्तहारों के बीचोंबीच मेरी तसवीर रहती थी। बाजारों, चौकों में लगाये गये इश्तहारों को लोग फाड़ डालते थे या उतार कर ले जाते थे। ऐसा ही एक इश्तहार देहली में श्रीकृष्ण सूरी कहीं से उतार लाये थे। वह अभी तक मेरे पास पड़ा है। मेरी धारणा थी कि इन इश्तहारों को देख कर मुझे कोई नहीं पहचान सकेगा। आशंका थी केवल पहचानने वालों से। कभी स्टेशन पर गाड़ी बदलने के लिये प्लेटफार्म पर इन्तजार करना आवश्यक होता तो मैं निधड़क इश्तहार के नीचे पड़ी बेंच पर जा बैठता और सिगरेट सुलगा लेता। विश्वास था, ठीक इश्तहार के नीचे ही मेरे आ बैठने की आशा कोई नहीं करेगा। नकली दाढ़ी-मूंछ कभी नहीं लगायी। बस पोशाक में थोड़ा-बहुत हेर-फेर करने से काम चल जाता था।

कानपुर गोलीकांड

इन दिनों इसी प्रतीक्षा में था कि साथी दल के संगठन का उत्तरदायित्व किसी एक व्यक्ति को सौंप दें तो काम का सूत्र जम सके। गुप्त-संगठन का काम सदा वोट लेकर तो हो नहीं सकता था। सुरेन्द्र पांडे कानपुर में संगठन के लिये प्रयत्न कर रहा था। उसका संदेश पाकर दूसरी बार कानपुर गया। फरारी के समय यात्रा करने में कुछ जोखिम तो रहती ही थी। इस बार कानपुर में पांडे से कहा कि सलाह करना चाहते थे तो तुम्हीं दिल्ली चले आते। आखिर मैं फरार हूं। सफर के लिये पैसा चाहिये और कुछ आशंका पहचाने जाने की भी रहती है।

पांडे ने उत्तर दिया—"देखो, तुम्हारी ओर तो किसी का ध्यान आकर्षित होता नहीं है। हमारा तो चेहरा ही कुछ फिलासफरों जैसा है न; तुरन्त ध्यान आकर्षित हो जाता है। हमें कानपुर की पुलिस एक बार गिरफ्तार भी कर चुकी है, खूब

पहचानती है।"

पांडे की दूसरी बात तो कम से कम ठीक ही थी। अभी दुबारा वारंट न होने पर भी वह फरार जैसा ही था। अस्तु मैंने ही कानपुर आना-जाना स्वीकार कर लिया। मई मास में फिर कानपुर से बुलावा आया कि संगठन के सम्बंध में सब मिल कर फैसला करेंगे। मैं अमुक दिन कानपुर में ग्यारह बजे सरसैया घाट पर मिलूं।

जहां तक याद है, कानपुर जाकर गुलजारीलाल के यहां ही ठहरा था। दोपहर में उन्हीं की साइकिल लेकर सरसैया घाट पहुंचा। मई का महीना, चिलचिलाती धूप थी। ऐसे समय सरसैया घाट सूना होने की आशा थी। घाट पर पहुंच कर देखा, घाट से ऊपर किनारे के एक तरफ पीपल के पेड़ के नीचे शिव जी के छोटे से मन्दिर के चबूतरे पर अपने साथी काशीराम, भवानी सहाय और राजेन्द्र निगम बैठे ताश फेंट रहे हैं। सुरेन्द्र पांडे और किसी दूसरे साथी की प्रतीक्षा थी। इधर-उधर की बातों में पांच-सात मिनिट ही गुजरे होंगे। मेरा ध्यान कुछ कदम पर खड़े चार आदमियों और एक इक्के की ओर गया। इन लोगों के पास दो साइकलें भी थीं। अपने साथियों से पूछा—"यह कौन लोग हैं ? कैसे, कब से खड़े हैं ?"

काशीराम ने उत्तर दिया—"न जाने कौन हैं। मेरे पीछे-पीछे चले आये हैं। तब से खड़े हैं।"

काशीराम से उत्तर सुन कर मैंने उस की बुद्धि पर विस्मय प्रकट किया—"अजीब आदमी हो ! कोई पीछा कर रहा था तो उसे साथ ही ले आये ? पीछा करने वाला सी० आई० डी० के अतिरिक्त और कौन होगा ?"

काशीराम ने कहा—"मैंने तो घूमघाम कर पीछा छुड़ाने की कोशिश की लेकिन यह लोग मानते ही नहीं।"

काशीराम की इस सादगी पर क्रोध आया। अभी और भी साथी आने वाले थे। मैंने कहा—"यह तो तुम ने बुरा किया। सभी को संकट में डालोगे।" पर अब क्या हो सकता था। दूसरे लोगों के आ जाने से पहले ही इनसे निबट लेना या वह जगह छोड़ देना उचित था। एक हाथ ताश बांटा कि देखें वे लोग क्या करते हैं। उन्हें उसी जगह जमे खड़े देख कर मैंने उन्हें समीप पुकार लिया—"अरे भाई खड़े क्या देखते हो ? आओ न दो हाथ ताश के ही हो जायें।"

"हम खड़े हैं। आप से कुछ कहते थोड़े हैं। आप लोग खेलिये !" उत्तर मिला।

"पर खड़े क्यों हो ? कुछ काम है हम से ?" मैंने फिर पूछा।

"कुछ काम नहीं है। आप लोग खेलिये।" उन्होंने उत्तर दिया।

"हम लोग यहां अकेले में अपने हंसी-मजाक और खेल के लिये आये हैं। किसी

का खड़े होकर ताकना तो अच्छा नहीं लगता।"

"हम आप से कुछ नहीं कह रहे हैं। आप अपना खेल खेलिये।" फिर उत्तर मिला।

अब क्या सन्देह था। मैंने उन्हें सुना कर अपने साथियों से कहा—"यह लोग यहां बैठना चाहते हैं तो चलो हम ही कहीं और चलें।"

हम चारों आदमी उठ खड़े हुये और साइकिलें लेकर सड़क पर आकर 'लाल इमली मिल' की ओर चलने लगे। उनमें से दो साइकिलों पर और दो खूब तेज इक्के पर हमारे पीछे आ रहे थे। उस समय राजेन्द्र निगम के विरुद्ध वारण्ट नहीं था। मैंने उससे कहा—"आगे फटने वाले रास्ते से तुम हालसी रोड की ओर चले जाना। अगर इनमें से कोई तुम्हारा पीछा करेगा तो यह बंट जायेंगे। तुम्हारा क्या बिगाड़ लेंगे। शेष को हम देख लेंगे। निगम उन दिनों कांग्रेस दफ्तर में रहता था।

लाल इमली के चौक पर आकर निगम हालसी रोड की ओर घूम गया। उन लोगों ने निगम का पीछा नहीं किया। मैंने काशीराम और भवानीसहाय से कहा—"साइकिलें खूब तेज चलाओ। जब मैं कहूं तो एकदम रुक जाना।" हम लोग खूब तेज चले। हमारा पीछा करने वाले भी उतने ही तेज हो गये। इक्के का घोड़ा बढ़िया था। पटापट खूब तेज चला आ रहा था। सोचा, आगे तो कचहरी आ जायगी। वहां भीड़ में हमारा बचाव और कठिन हो जायगा। मैंने अपने साथियों से सहसा कहा—"स्टाप!"

हम तीनों ने अपने साइकिल ब्रेक लगाकर रोक दिये। हमारा पीछा करने वाले खबरदार न होने से हमसे आगे निकल गये परन्तु वे भी रुक कर हमारी तरफ घूम आये। इस प्रयत्न में उनमें से एक की कमर में कुर्ते के नीचे लटकते रिवाल्वर की झलक मुझे मिल गयी। मैंने उन्हें फिर सम्बोधन किया—"आखिर आप लोग चाहते क्या हैं?"

इस बार उनमें से एक ने काशीराम की ओर संकेत करके उत्तर दिया—"हम इन्हें अपने साथ थाने ले जायेंगे।"

"क्यों?" मैंने पूछा।

"इनके नाम वारण्ट है।"

"इनके नाम वारण्ट कैसे हो सकता है?" मैंने पूछा, "अच्छा, क्या नाम है इनका?"

"काशीराम।" उत्तर मिला।

"मेरा नाम तो जगदीश है।" काशीराम बोला। मैंने भी उसका समर्थन किया।

उन लोगों ने कहा—"अगर ऐसी बात है तो यह हमारे साथ कोतवाली चलें।

वहां फैसला हो जायेगा।"

मैंने फिर कहा—"यह कोतवाली आकर खुद बात कर लेंगे। आप जाइये। हम इन्हें कोतवाली ले आयेंगे।"

ऐसा प्रस्ताव वे लोग क्या मानते। मैं अवसर की प्रतीक्षा में था। अस्तु, मैंने काशीराम से कहा—"अच्छा भाई, यह लोग कह रहे हैं तो इनकी बात मान लो। तुम इनके साथ जाओ। हम तुम्हारे भाई को लेकर कोतवाली आते हैं।"

काशीराम घबराया—"नहीं, मैं नहीं जाऊंगा। मैं क्यों जाऊं? मेरा नाम जगदीश है।"

मैंने उसे डांटा—"जाते क्यों नहीं? जब यह लोग कह रहे हैं। तुम्हें पुलिस का कहना मानना चाहिये। तुम्हारा क्या हर्ज है?"

स्वाभाविक ही था कि काशीराम घबरा जाता कि मैं उसे मुसीबत में अकेले धकेल रहा हूं।

"मैं चला जाऊं भैया?" उसने निराशा से पूछा।

मैंने और भी डांटा—"कह तो रहा हूं, जाओ। पुलिस से क्या झगड़ा? हम तुम्हारे भाई को लेकर अभी आते हैं। घबराने की क्या बात है?"

गहरा सांस लेकर काशीराम ने कहा—"अच्छा!" और भाग्य भरोसे अपनी साइकिल घुमाने लगा। शायद यह सोच कर कि अब अकेले जो बन पड़ेगा, करेगा।

पुलिस वालों ने उसकी साइकिल का हैंडल थाम कर कहा—"आप इक्के पर बैठ जाइये। साइकिल आपकी हम इक्के के पीछे बांध देंगे।"

काशीराम ने अपनी साइकिल न छोड़ने की जिद्द की। वह यही सोचता होगा कि साइकल पास रहने से ही भाग जाने की आशा हो सकती है। मैंने फिर डांटा—"यह लोग जो कहते हैं वही क्यों नहीं करते हो जी?"

काशीराम ने बहुत ही निराशा में साइकिल छोड़ दी और पुलिस वालों के कहने से इक्के पर बैठ गया। पुलिस के दो आदमी इक्के वाले से रस्सी लेकर साइकिल को इक्के के पीछे बांधने लगे। दूसरे दो भी उसी ओर देख रहे थे। मैंने जरा साइकिल पीछे हटा कर और कमर से पिस्तौल निकाल दो पुलिस वालों को एक-एक गोली मार दी। मिलिटरी का पिस्तौल था। उसकी गोली बहुत बड़ी थी। दोनों एक-एक गोली में ही गिर कर चिल्लाने लगे। शेष दो में से एक साइकिल पर भागा और एक सड़क किनारे बंगले की बाड़ के भीतर कूद गया।

काशीराम इक्के से कूद आया और उसने भी एक गोली एक गिरे हुये सिपाही को मार दी। मैंने उससे और भवानीसहाय से एकदम साइकिलों पर चल देने के लिये

कहा और उनके पीछे-पीछे स्वयं हाथ में थमे पिस्तौल से भागे हुये सिपाही की ओर गोली चलाता हुआ साइकिल पर चला। एक सिपाही जो साइकिल पर समीप के बंगले की ओर गया था, अब आड़ लेकर मुझ पर गोली चला रहा था पर इतनी दूर से और तेज चलती साइकिल पर उसका निशाना क्या लगता। उत्तर में मैंने उसकी ओर भी एक गोली चला दी।

लौट कर चुन्नीगंज में गुलजारीलाल जी की कोठरी में शरण ली। इस घटना के बाद कानपुर में विचार-परामर्श क्या करते। अगले दिन मैं दिल्ली लौट गया।

दूसरे दिन कानपुर के पत्रों में पढ़ा कि दोनों ही सिपाहियों की अवस्था चिंताजनक थी। एक के तो गोली पीठ की ओर से फेफड़े के पास से बाल भर बचती निकल गयी थी, दूसरे के पेट में काफी जख्म कर गयी थी।

दिल्ली से कानपुर जाने के लिये रुपया सुमित्रा दीदी से लिया था। यह भी उन्हें मालूम था कि मैं किसी काम से कानपुर जा रहा हूं। मेरे लौटने से पहले ही दिल्ली के समाचार पत्रों में कानपुर की घटना छप गयी थी। दिल्ली लौट कर उनसे मिलना हुआ तो उन्होंने पूछा—"भैया, कानपुर में यह क्या किया तुमने ?"

उनका समाधान किया—"वे लोग खामुखा हमें मारना चाहते थे। अपना बचाव तो करना ही पड़ता है।" घायल हो जाने वाले सिपाहियों के प्रति उन्हें बहुत सहानुभूति थी। कानपुर के वे सिपाही तो काशीराम को ही ढूंढ़ रहे थे परन्तु जाने क्यों सरकार को विश्वास हो गया था कि कानपुर कांड के लिये यशपाल जिम्मेवार था। मेरी गिरफ्तारी के बाद मुझ पर इस घटना के लिये भी मुकदमा दायर किया गया था। कुछ दिन बाद राजेन्द्र निगम कानपुर में गिरफ्तार कर लिया गया। इसी मामले में उसे सात वर्ष के लिये जेल में डाल दिया गया। यह अंग्रेजी न्याय का एक नमूना था। इस कांड के लिये किसी को तो दंड मिलना ही चाहिये था वर्ना पुलिस का निकम्मापन साबित हो जाता। जो हाथ आ गया वही सही।

सुमित्रा दीदी ने पहले से कह रखा था कि राखी के दिन मैं अवश्य ही दिल्ली में रहूं। राखी के दिन वे लगभग नौ बजे हमारे यहां आयीं। उन्हें कुछ उदास देख कर पूछा—"क्यों, क्या बात है ?"

"भैया, आज मेरी इन्सल्ट हो गयी।" दीदी ने उत्तर दिया।

"क्यों ?…कैसे ?…क्या हुआ ?" मैंने पूछा।

उन दिनों गांधी जी सन १९३१ की गोलमेज कान्फ्रेंस के लिये लंदन जाने वाले थे। शायद उसी प्रसंग में नेहरू जी दिल्ली आये थे और नारायणदत्त जी के यहां ही ठहरे थे। राखी के दिन सुबह ही सुमित्रा राखी लेकर नेहरू जी के पास पहुंची—"मैं

आपको भाई बनाने के लिये राखी बांधना चाहती हूं।"

"क्यों, क्या जरूरत है?" नेहरू जी बोले, "मेरी दो बहनें काफी हैं। दुनियां भर की लड़कियों को बहन बनाते फिरने का शौक मुझे नहीं है।"

सुमित्रा जी पर घड़ों पानी पड़ गया। चुप खड़ी रह गयीं। उनका मुंह लटक गया। नेहरू जी ने कहा—"अच्छा लाओ बांध दो।"

सुमित्रा जी ने मुझ से कहा—"ऐसी अवस्था में मन तो नहीं कर रहा था परन्तु स्वयं ही जाकर कहा था इसलिये राखी बांध दी परन्तु बहुत अपमान अनुभव हुआ।"

मैंने हंस कर कहा—"क्यों बांध दी!" आप को कहना था, "पंडित जी, आपकी बात मेरी समझ में आ गयी। दुनियां भर के लोगों को भाई बनाने की क्या जरूरत? .. रहने दीजिये।"

सुमित्रा दीदी को नेहरू जी की बात कड़वी लगना स्वाभाविक था परन्तु नेहरू जी की बात में गलती क्या थी? किसी लड़की को बहिन या लड़के को भाई बनाये बिना क्या स्त्री-पुरुषों में परिचय और सौजन्य तथा मित्रता का भाव हो ही नहीं सकता? मुझे स्वयं दुनियां भर की स्त्रियों को माता और बहिन की दृष्टि से देखने के उपदेश का अर्थ यही जान पड़ता है कि हम साधारणत: सभी स्त्री-पुरुषों में यौन सम्बंध की ही आशंका लिये रहते हैं। ऐसे पुरुष भी धन्य ही होंगे जो सभी स्त्रियों के प्रति यौन-भावना रख सकते हैं। एक सामान्य स्वस्थ मस्तिष्क से तो ऐसी विराट आसक्ति की आशा नहीं की जा सकती।

एक बार फिर कानपुर से संदेश मिला कि मिल कर संगठन के सम्बंध में बात कर ली जाये। इस बार मुझे कानपुर नहीं बुलाया गया। हापुड़ में मिलना निश्चय हुआ। भावी कार्यक्रम के सम्बंध में मैंने प्रस्ताव रखा कि हमारे दल का आधार हमारी विचारधारा है। इन विचारों के प्रति साहनुभूति फैला कर हमें सर्वसाधारण में दल का विस्तार करना चाहिये। जहां भी हमारे विचार के लोग हों हमारा कार्यक्रम स्वयं चलता रहे इत्यादि इत्यादि। सुरेन्द्र पांडे के भी ऐसे ही विचार थे। क्रियात्मक रूप से मेरा प्रस्ताव था कि हम सभी को यथासम्भव व्यक्तिगत रूप से स्वावलम्बी बन जाना चाहिये। विचारों के प्रचार का हमारे लिये एकमात्र साधन गुप्त प्रेस हो सकता है इसलिये हम लोगों को जहां सम्भव हो प्रसों में कम्पोजीटरी या प्रेस के दूसरे कामों में समा जाना चाहिये ताकि फिलहाल निर्वाह के लिये डकैती अथवा मांग-तांग से छुट्टी मिले।

मेरे इस प्रस्ताव से पांडे या और भी कोई दूसरा साथी सहमत दिखाई नहीं दिया। पांडे का विचार जान पड़ता था कि जहां भी आवश्यकता हो शस्त्र लेकर डकैती करने

या ऐसे कामों की जिम्मेवारी यशपाल पर रहे । वह इन कामों के लिये उपयुक्त है । दल का सैद्धान्तिक मार्ग निर्देशन और संगठन पांडे करते रहें । यह बात मुझे कुछ अच्छी नहीं लगी । रात में विलम्ब हो जाने से किसी परिणाम पर पहुंचे बिना बातचीत छोड़ कर हम लोग फर्श पर बिछी चटाई पर इधर-उधर लुढ़क कर सो गये थे । सुबह नींद खुलते-खुलते कान में आवाज पड़ी । मेरी पीठ की ओर दो साथी काफी ऊंचे और खिन्न स्वर में बात कर रहे थे । बात अपने ही सम्बंध में जान पड़ी इसलिये चुपचाप सुनता रहा—'·· वाह साहब, यह हमें कम्पोजीटर बन जाने की सलाह दे रहे हैं । · वायसराय की ट्रेन के नीचे बम चलाने के लिये बिजली का बटन क्या दबा दिया अपने आप को जाने क्या समझने लगे···।' कुछ देर बाद उठ कर बैठा तो यह प्रकट नहीं किया कि मैं उन की बात सुन रहा था । अपने मन में निश्चय कर लिया कि इन लोगों को मुझ पर विश्वास नहीं है । हापुड़ से चलने के लिये तैयार होकर मैंने इतना कह दिया—'आप स्वयं फैसला कर लीजिये । मुझे आप लोगों का निर्णय जंचेगा तो साथ दूंगा ।'

लगभग इसी समय की बात है । एक दिन सूर्यास्त से कुछ पूर्व मैं चावड़ी बाजार की घनी भीड़ में से फुटपाथ पर जामा मस्जिद की ओर चला जा रहा था । सहसा क्या देखता हूं कि ठीक मेरे सामने ही कानपुर की घटना के चार सिपाहियों में से एक चला आ रहा है । बस, दो ही कदम का अन्तर रह गया था कि हम दोनों की आंखें अचानक चार हो गयीं । कानपुर की घटना के समय हमारा पीछा करने वालों में यह आदमी इक्के पर था । उस के पहलवानी ढंग, पहनाव और पक्के सांवले रंग के कारण उसे पहचानने में कोई दुविधा नहीं हुई । वह उस समय भी कुरता धोती ही पहने था । मैं भी अवसरवश उस समय कानपुर की घटना के समय की तरह धोती ही पहने था । दो सिपाहियों के गोली खाकर गिर पड़ने पर यही आदमी भाग कर सामने के बंगले की आड़ से मुझ पर गोली चलाने लगा था ।

सिपाही से आंखें चार होते ही मैंने सांस भर कर उस की आंखों में घूर कर देखा । वह चोटी से एड़ी तक कांप उठा । मैं कमर पर हाथ रख कर उस के समीप हो गया और आंखों से उस के पीठ पीछे इशारा किया—चुपचाप चले जाओ !

सिपाही बहुत तेज चाल से एकदम लौट कर चल पड़ा । मैं वैसे ही खड़ा उस की ओर देखता रहा । प्राय: तीस कदम जाकर उस ने घूम कर पीछे की ओर देखा । मुझे वैसे ही खड़े देख वह दौड़ पड़ा । मैं समीप की गली में से घुस खूब तेज चलता हुआ देखता जा रहा था कि कोई पीछा तो नहीं कर रहा । अपनी सुरक्षित जगह पहुंच कर सोचा, इस समय सिपाही निश्चय ही निशस्त्र रहा होगा । प्राणों के भय ने उसे कैसे चुप करा दिया । हैदराबाद (सिंध) स्टेशन वाली घटना भी याद आयी । यह सिपाही

कोतवाली में जाकर यदि मुझे देख कर भी चुपचाप भाग आने की बात कहता तो खामुखा नौकरी से बरखास्त ही होता।

इस सिपाही से एक बार फिर सामना हुआ। वह विकट परिस्थिति थी। उसे मुझे पहचानने के लिये ही लाकर सामने खड़ा कर दिया गया था पर वह पहचान ही न सका। पहचान न सकने का रहस्य प्रसंग आने पर ही बताना ठीक रहेगा।

अब मेरे दिमाग में फिर रूस चले जाने का खयाल प्रबल हो उठा। सोच लिया— जिन लोगों को मुझ पर विश्वास नहीं, उनकी मुझ पर क्या जिम्मेवारी। प्रकाशवती ने भी यही सलाह दी।

इन दिनों दिल्ली में लाहौर नेशनल हाई स्कूल के हेडमास्टर गुरुदत्त जी से मुलाकात हो गयी। उन्होंने भरोसा दिया—"तुम अगर विदेश जाना चाहते हो तो प्रकाशवती हमारे यहां रह जायेंगी।"

गुरुदत्त जी नेशनल स्कूल टूट जाने के बाद उत्तर प्रदेश के अमेठी ताल्लुके के राजा साहब के प्राइवेट सेक्रेटरी का काम कर रहे थे। एक तरह से बात तय ही हो गयी। प्रभुदत्त से बात की। उसने सलाह दी कि रुपये का कुछ तो प्रबन्ध मैं कर दूंगा, कुछ सुमित्रा दीदी से कहो। सुमित्रा तो पहले ही इस बात पर जोर दे रही थी कि मैं आत्मरक्षा के लिये विदेश चला जाऊं।

गुरुदत्त जी के साथ प्रकाशवती अमेठी चली गयीं। हमने दिल्ली वाला मकान छोड़ दिया। मेरा यह खयाल था कि सरहद के रास्ते रूस पहुंचने के प्रयत्न में बहुत संकट होगा। कहीं पठान लुटेरों ने ही समाप्त कर दिया तो क्या फायदा? या रूस की सीमा में पहुंचने पर जासूस समझ लिया गया और सोवियत की जेल में डाल दिया गया तो क्या फायदा? क्यों न ऐसे लोगों के माध्यम से जाऊं जिनका रूस से सम्पर्क हो। तभी वहां मेरा विश्वास किया जा सकेगा। इस विचार का एक कारण यह था कि एम० एन० राय रूस से भारत लौट आये थे और अभी गिरफ्तार नहीं हुये थे। उस समय वे डाक्टर अहमद के नाम से बम्बई में थे। किसी एक सूत्र से उन्होंने मुझ से मिलने की भी इच्छा प्रकट की थी। उस समय तक मैं भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और एम० एन० राय के कार्यक्रम के भेद के विषय में कुछ नहीं जानता था। मेरठ षड़यन्त्र का मामला चल रहा था। मैं मेरठ जाकर इस केस के जमानत पर रिहा अभियुक्त हचिन्सन से मिला और इच्छा प्रकट की कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से मुझे यह प्रमाण पत्र दे दिया जाये कि मैं अंग्रेज सरकार से लड़ने वाला फरार क्रान्तिकारी हूं और विश्वास के योग्य हूं।

हचिनसन ने आश्वासन दिया—इसमें विशेष कठिनाई नहीं होगी परन्तु इसके

लिये मुझे बम्बई जाना होगा। उन दिनों कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन दूसरे ढंग का था। उस वर्ष सुहासिनी (सरोजिनी नायडू की छोटी बहिन) कम्युनिस्ट पार्टी की प्रेजीडेंट थीं। मैं जब बम्बई पहुंचा वे बीमार थीं। साथी रणदिवे से बात हुई। यह लोग प्रमाण-पत्र देने में हिचक रहे थे कि यदि मैं कहीं गिरफ्तार हो गया तो मेरे पास उनका प्रमाण-पत्र मिलने से उनकी पार्टी और आतंकवादियों में सम्पर्क का प्रमाण बन जायेगा। अलबत्ता वे ऐसे आदमियों से परिचय करा देने के लिये तैयार थे जिनकी सहायता से समुद्री रास्ते से विदेश जाना सम्भव हो जाता। बम्बई में उनके स्थानों पर रहते समय मेरा शस्त्र रखना भी वे उचित नहीं समझते थे।

मैंने रणदिवे से एम० एन० राय से मिल सकने के विषय में भी बात की। मेरा अनुरोध सुन कर उन्होंने कहा—"उसका उपाय तुम स्वयं करो परन्तु यदि तुम एम० एन० राय से सम्पर्क रखना चाहते हो तो हमारी पार्टी से कोई आशा न करो।" यह मुझे इसके बाद ही पता चला कि एम० एन० राय भारत लौटने से पहले कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल से झगड़ कर आये थे और उनके विरुद्ध चीन में विश्वासघात कर आने का आरोप या अपवाद था।

मैं बम्बई से लौट आया कि सब बातों का निश्चय करके ही वहां जाकर बाहर जाने की व्यवस्था करूंगा। प्रकाशवती से बात करने के लिये अमेठी गया। वह सभी प्रकार सहमत थीं। लौटते समय प्रतापगढ़ स्टेशन पर गाड़ी बदलने के लिये वेटिंग रूम में प्रतीक्षा कर रहा था। गुजराती सेठों की तरह लम्बा कोट, बढ़िया धोती और टोपी पहने था। सहसा देखा कि पूरा स्टेशन पुलिस से घिर गया है। चोर की दाढ़ी में तिनका। यही खयाल आया किसी तरह पुलिस को मेरे वेटिंग रूम में होने का सन्देह हो गया है। इस जगह से बिलकुल अपरिचित था। सोचा—लड़कर मरने का समय आ गया।

पुलिस कायदे से कुछ-कुछ अन्तर से सभी जगह खड़ी थी। मैंने सूटकेस को कमरे के बीचोंबीच पड़ी मेज पर खोल कर रख लिया कि देर तक लड़ने के लिये इसकी थोड़ी-बहुत आड़ रहेगी। वेटिंग रूम का दरवाजा जालीदार था। बाहर मैं स्पष्ट देख सकता था पर बाहर से भीतर न दिखायी दे सकता था। बार-बार झांक कर देख रहा था कि पुलिस वेटिंग रूम की तरफ आती ही होगी। आखिर देखा कि दो इंस्पेक्टर अपनी पगड़ियों के झब्बे ठीक करते हुये वेटिंग रूम की ओर आ रहे हैं। दोनों के कंधे से वर्दी के रिवाल्वर भी लटके हुये थे। उनके पीछे कुछ सशस्त्र कान्सटेबल भी थे। झट जाकर सूटकेस के पीछे हो रिवाल्वर ले कर उसका सेफ्टीकैच हटा दिया कि उनके भीतर कदम रखते ही पहली चोट मैं ही करूंगा।

एक कान्स्टेबल ने दरवाजा खोला। एक इन्स्पेक्टर ने भीतर झांका परन्तु मुस्करा कर बहुत सलीके से सलाम कर बोला—"आदाब अर्ज है, आपको कुछ जहमत होगी।" उसके ढंग से रिवाल्वर को चुपके से सूटकेस में ही रख मैंने भी बहुत विनय से उत्तर दिया—"आइये तशरीफ लाइये, क्या हुक्म है ?"

इन्स्पेक्टर ने बताया—"गवर्नर साहब की स्पेशल का इंजन यहां पानी लेगा। कायदा है कि ऐसे वक्त स्टेशन पर मुसाफिर नहीं रहते हैं। तकलीफ न हो तो सामान को ताला लगवा कर जरा बाहर टहल आइये।"

आश्वस्त हो मैंने बम्बइया हिंदी में उत्तर दिया—"जैसा आप का कायदा और हुक्म ! हम तो इस में कुछ नहीं जानता पर हम गाड़ी बदलने को बैठा था। इधर कोई जगह जानता नहीं।"

"तो फिर जरा तकलीफ कीजियेगा कि जितनी देर स्पेशल यहां रहे, आप बाहर न आइयेगा, बस आठ-दस मिनिट ! परेशानी तो होगी लेकिन मजबूर हूं, कायदे से !" बात आयी गयी पर इस घटना से इतना तो स्पष्ट ही है कि सदा ही कितना तनाव दिमाग पर बना रहता था।

सुमित्रा दीदी मंसूरी में थीं। उनसे रुपये के सम्बन्ध में बात करनी थी। मंसूरी पहुंचा। मंसूरी जाने वाले साहब लोगों की ही पोशाक में था। सन्देह से परे बड़े होटलों में जाने के खर्चे की कठिनाई थी। यों भी पूछ-ताछ से बचने के लिये होटल ठीक नहीं थे। एक बड़े बंगले पर लिखा था—किराये के लिये कमरे खाली। जाकर बात की। उन्होंने पूछा—"परिवार साथ है या अकेले ही हैं ?" अनुमान किया अकेले आदमी को जगह देने में घबरा रहे है। उन्हें सान्त्वना दी—"जगह मिल जाये तो पत्र लिख दूंगा। पत्नी आ जायगी।" जगह मिल गयी।

सुमित्रा दीदी के यहां मिलने के लिये पहुंचा। उनकी बड़ी बहिन ही पहले मिलीं। देहली में कभी उनके यहां जाता था तो खद्दर के धोती, कुर्त्ता और टोपी पहने रहता था। उन्हों ने सुमित्रा से जो मेरे विषय में पूछा था तो सुमित्रा जी ने कह दिया था—"एक डाक्टर हैं। कांग्रेस में काम करते हैं।"

"डाक्टर हैं, प्रैक्टिस तो क्या चलती होगी इनकी ?" उनकी बहिन ने पूछा था और उन्होंने उत्तर दे दिया था—"हां, ऐसे ही होमियोपैथ हैं बेचारे।"

इस बार मैं उनके यहां गया तो बिर्चिस, कोट और टाई पहने था। बहिन जी को पहचानने में उलझन हुई और पहचाना तो ताने से बोलीं—"कहिये डाक्टर साहब, खद्दर कहां गया ?"

"अब क्या जरूरत है खद्दर की ?" मैंने उत्तर दिया—"वह तो स्वराज्य पाने के

लिये ही था। गांधी जी स्वराज्य लेने लंदन (गोलमेज कान्फ्रेंस में) गये तो हैं। अब क्या जरूरत है खद्दर के झगड़े की ?" बहिन जी इस उत्तर से क्या संतुष्ट होतीं।

सुमित्रा जी मालूम हुआ कि मंसूरी में वे कुछ भी नहीं कर सकतीं। दिल्ली जाकर ही कुछ सोचेंगी। दिल्ली वे तभी जातीं जब उनका परिवार जाता। लाइब्रेरी बाजार में से गुजरते समय अचानक लाहौर की एक परिचित कुमारी जी मिल गयीं। देखकर बहुत प्रसन्न हुईं। उनके साथ ही दिल्ली के प्रसिद्ध कांग्रेसी कार्यकर्ता सूरी परिवार की लड़की भी थी। वे दोनों मुझे अपने यहां ले गयीं। उन्होंने प्रकाशवती के सम्बन्ध में पूछा—"कहां हैं ?" उत्तर दिया—"वह कहीं और हैं।"

वे दोनों कुमारियां किसी के यहां मेहमान थीं। उस मकान में जगह कम ही थी परन्तु उन्होंने उदारता से साथ रहने का निमंत्रण दे दिया। उन्हें बताया कि जगह तो काफी बड़ी ले चुका हूं, यों ही पड़ी है।

"तो हम लोग ही वहां चली चलें !" कुमारियों ने प्रस्ताव किया।

"मुझे तो कुछ एतराज नहीं।" मुस्कराकर उत्तर दिया, "मेरे साथ रहने में जो खतरा है, उसके अतिरिक्त यह भी झंझट है कि बंगले में रहने वाले पड़ोसी आप में से एक को मेरी पत्नी समझ लेंगे। क्योंकि मैंने उन्हें कह दिया है कि मेरी पत्नी आने वाली है।" मिस सूरी तो जोर से हंस दीं—"उसमें क्या है।" परन्तु दूसरी कुमारी जी को यह बात अपमानजनक लगी। सम्भव है मेरे मुस्कराकर कहने से कोई विशेष अभिप्राय जान पड़ा हो। उनका क्रोध और भी बढ़ गया क्योंकि अगले ही दिन उन्हों ने मुझे प्रकाशवती के साथ सड़क पर देख लिया। उन्हें विश्वास हो गया कि मैंने उनसे झूठ बोला था। बात काफी बढ़ गयी।

प्रकाशवती अचानक ही मंसूरी पहुंच गयी थीं। मुझे उनके जल्दी आने की आशा न थी। बात यह हुई कि अमेठी में उनके प्रति सन्देह का कोई कारण जान पड़ने से उन्हें वहां से तुरन्त हट जाना पड़ा। यह उन्हें मालूम था कि मैं मंसूरी गया हूं। वे मंसूरी आ गयीं और नारायणदत्त जी का बंगला पूछ कर सुमित्रा जी के यहां पहुंच गयीं। स्वयं सड़क पर प्रकाशवती को सुमित्रा जी के साथ देखकर मैं विस्मित रह गया था।

सूरी परिवार की दोनों बहिनों ने हमें आश्रय और सहायता देने के लिये प्रस्ताव किया। वे लोग देहरादून में एक मकान किराये पर ले रही थीं। मैं और प्रकाशवती चुपचाप उनके साथ रह जायें। हम लोगों को ऐसा निमंत्रण देने का अर्थ निश्चय भय और आशंका को न्योता देना था। हमने उनका निमंत्रण स्वीकार कर लिया। वह मकान देहरादून में खुड़बड़े मुहल्ले के परे बंदाल नदी के किनारे था। बड़ी शान्ति के

दिन थे। समय मिला तो मैंने पढ़ना शुरू कर दिया और आस्कर वाइल्ड के एक नाटक 'वीरा दि निहिलिस्ट' का अनुवाद भी कर डाला। किसी काम से दिल्ली गया था। इन लोगों की मार्फत दिल्ली में हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस के मैनेजर देवीप्रसाद जी शर्मा से परिचय हो गया था। उनसे अनुरोध किया कि मैं लिख सकता हूं। यदि कोई प्रकाशक चाहे तो मेरी लिखी चीजों को चाहे जिस नाम से या एक निश्चित नाम से प्रकाशित करता रहे और मुझे पारिश्रमिक दे दिया करे। मैं स्वयं कमा कर अपना निर्वाह करना चाहता हूं। शर्मा जी ने आश्वासन दिया कि यत्न करेंगे। उन्होंने उस समय के एक सफल प्रकाशक ऋषभचरण जी जैन से परिचय करा दिया। वे लुई फिशर की पुस्तक 'गांधी और लेनिन' का अनुवाद करवाना चाहते थे। छः-सात सौ पृष्ठ की अच्छी बड़ी पुस्तक थी। ऋषभचरण जी ने दो सौ रुपया तो मुझे पेशगी ही दे दिया। मैंने सोचा, कुछ विश्राम का समय आया।

ऋषभचरण जी ने एक और भी अनुरोध किया था कि मैं एक बार उनके मकान पर अवश्य आऊं। शर्मा जी के साथ वहां गया। बैठक में बैठा था। ऋषभचरण जी कपड़ों में लिपटा एक बन्डल-सा हाथों पर सम्भाले भीतर से ले आये। समीप आने पर देखा तो प्रायः उसी दिन का जन्मा एक बालक था। ऋषभचरण बोले—"मेरा पुत्र है। इसे अपनी गोद में लेकर आशीर्वाद दे दीजिये कि आप के ही समान शूरवीर और साहसी हो!"

उन्हें समझाया—"मैं शूरवीर नहीं हूं। जैसी परिस्थितियां आ पड़ी हैं, अपना कर्त्तव्य समझ कर निबाह रहा हूं।" पर वे भला क्यों मानने लगे। अस्तु, आशीर्वाद दिया। जाने वे नौनिहाल कितने शूरवीर बने होंगे। १९६० के पश्चात इस नौनिहाल से कई बार भेंट हुई है। अपनी अपेक्षा उसके स्वस्थ कद और सद्व्यवहार से संतोष होता है।

अपनी कमाई का भी कुछ पैसा हाथ आने लगा। हम लोग जरा ढंग से रहने लगे। देहरादून, करणपुर में डी०ए०वी० कालिज के पीछे एक छोटा-सा सुथरा मकान ले लिया था। बांस की बनी सस्ती मेज-कुर्सी भी ले आये और खिड़कियों में पर्दे लगा लिये। मैं दिन भर अनुवाद किया करता। संध्या समय घूमा करते। देहरादून में कई परिचित भी मिल गये। सौभाग्य से सभी विश्वास योग्य थे। नयी जगह नया परिचय, नये नाम-धाम देते थे। सुमित्रा दीदी का दिया हुआ डाक्टर का खिताब भी साथ चिपका हुआ था। पहनने के लिये प्रभुदत्त, सुमित्रा दीदी और जसवंत सिंह की कृपा से अच्छा खासा सूट और रेशमी कमीजें थीं। चौधरी रामधनसिंह ने स्वयं बना कर एक जोड़ा सुन्दर जूता भी दिया था इसलिये सम्भ्रान्त वेश।

मिस सूरी पहले भी देहरादून रह गयी थीं। घूमते-फिरते उनकी परिचित और समवयस्का एक मराठी अध्यापिका से भी परिचय हो गया। उनसे यह मुलाकात मेरी और प्रकाशवती की अलग-अलग हुई थी। मिस सूरी ने प्रकाशवती का परिचय रिश्ते की बहन के रूप में दिया था। मुझ से मुलाकात होने पर मेरा परिचय रिश्ते के भाई डाक्टर के रूप में करा दिया। एक साथ मिलने पर हमारा सम्बंध पति-पत्नी का नहीं बताया जा सकता था इसलिये डाक्टर को कुंआरा ही बता दिया गया। डाक्टर साहब के कपड़े-लत्ते काफी अच्छे रहते थे। बताया, विलायत से पास करके आये हैं। बम्बई में प्रैक्टिस शुरू की है। मसूरी आये थे। देहरादून में भी कुछ दिन रह गये हैं। कुंआरे, युवा और सम्पन्न डाक्टर के प्रति बीस-बाइस वर्ष की कुमारी बेटी की मां का सहृदय हो जाना आश्चर्य की बात नहीं थी।

अध्यापिका और उनकी मां के पड़ोस में एक और उसी आयु की बंग कुमारी अध्यापिका भी थीं। इनके पिता उस समय देहरादून आये हुये थे। इन सज्जन को भी डाक्टर साहब का परिचय पाकर बहुत सुख हुआ। सप्ताह में एक दिन इधर चाय हो जाती तो दूसरे दिन दूसरी ओर। यह सब सहृदयता यशपाल के रूप-गुण के प्रति नहीं, विलायत से पढ़कर आये, बम्बई में हार्नबाई रोड पर प्रैक्टिस शुरू करने वाले अविवाहित डाक्टर प्राणनाथ के प्रति थी। बंग कुमारी के पिता इलाहाबाद में, सम्भवत: 'पायोनियर' के सम्वाददाता थे। इसलिये बातचीत में उन्होंने इंगलैंड और लन्दन के विषय में कुछ जिज्ञासा की। बहुत से इंगलिश उपन्यास पढ़ चुका था। लन्दन-ग्लासगो के कई स्थानों के नाम बताकर उनका समाधान कर सकता था।

एक दिन महाराष्ट्र अध्यापिका की माता का संदेश मिला कि उनकी तबीयत खराब है। डाक्टर साहब देख जायें तो बहुत कृपा हो। यह झूठ के पाल में पहला तीर लगा। अस्तु, जाना तो पड़ा और जाकर कहा कि मैं तो डेन्टिस्ट डाक्टर हूं। आप को ज्वर है। किसी दूसरे डाक्टर को बुला लें। आखिर वृद्धा के दांत में कष्ट कब तक न होता। वह दिन भी आ ही गया। दांत का कष्ट स्वयं भी काफी भुगत चुका था। कई बार डेन्टिस्टों के यहां जाना पड़ा था। मैंने वृद्धा का मुंह खुलवा कर और बिजली की टार्च से बहुत ध्यान से देखकर कहा—"आप के दांत में काफी खराबी है। मेरे औजार यहां नहीं हैं। आप किसी डेन्टिस्ट के यहां दिखाइये। दरद रोकने के लिये एस्परीन की पुड़िया खाकर क्लोव आयल की फुरेरी लगा लीजिये।" कहने को तो बात बन गयी पर बनी रह न सकी। कैसे? यह गिरफ्तारी के बाद के प्रसंग में बताऊंगा; एक बार बोला झूठ कितनी दूर तक पीछा करता है।

रूस जाने की बात टलती ही जा रही थी। इस बीच अपने प्रति साथियों के पूर्ण

विश्वास न होने के तिरस्कार की चोट भी उतनी तीखी न रही थी। सोच लिया था कि जो साथी पूर्ण विश्वास से मेरे साथ काम कर सकते हैं, उनके साथ मिलकर क्यों न फिर से संगठन बांधा जाये। सूरी परिवार कांग्रेस के लोगों में तो खूब परिचित था ही, क्रान्तिकारियों में भी उनका परिचय कम न था। यत्न करते ही देहली में रामसिंह, हरिबन्धु समझदार और मेरठ में राजेन्द्रसिंह (वारियर), रणधीरसिंह आदि ऐसे लोग मिल गये जो मुझे खोज रहे थे। मेरठ के राजेन्द्रसिंह और रणधीर तो दो-तीन पिस्तौलें भी अपने ही प्रयत्न से ले आये थे। माशी मां भी कानपुर से दिल्ली आकर मुझे खोज रही थीं। इतने दिन तक दल का संगठन बिखरा रहने और कुछ न होने से वे बहुत विरक्त थीं। उनका विश्वास था कि मैं जरूर कुछ कर सकूंगा। पूर्वी उत्तर प्रदेश से कृष्णशंकर श्रीवास्तव ने अपने साथियों के पूरे सहयोग का आश्वासन दिया। उसने दिल्ली में एक आयरिश महिला सावित्री देवी (उर्फ मिसेज जाफरअली) से भी परिचय कराया। सावित्री बैरिस्टर जाफरअली से पृथक होकर मांटेसरी पद्धति से बच्चों की शिक्षा का काम कर अपना निर्वाह कर रही थीं। आयरिश होने के नाते उन्हें अंग्रेजों से चिढ़ थी और अब भारत को अपना देश मानकर विदेशी अंग्रेजी सरकार को इस देश से हटाने के प्रयत्न में साथ देना चाहती थीं। इन सभी लोगों की राष्ट्रीय भावना की दिशा हि०स०प्र०स० की समाजवादी भावना के अनुकूल थी।

सूरी परिवार का सुशीला दीदी और दुर्गा भाबी से भी परिचय और सम्पर्क था। इतने सहयोग की आशा से उत्साहित होकर मैंने इन दोनों से भी मिल लेना उचित समझा। पहले सुशीला दीदी से सूरी के मकान पर मुलाकात हुई। दीदी को ऐसा स्वस्थ और इतने अच्छे ढंग से पहरे-ओढ़े देखने का अवसर न पहले कभी हुआ था और न बाद में हुआ। बहुत अच्छा लगा परन्तु बात करने पर उतना नहीं। उन्होंने साफ कह दिया कि उन्होंने बहुत कुछ देख और कर लिया है और अधिक झंझट में फंसना नहीं चाहतीं। उनके एक-दो दिन बाद दुर्गा भाबी से मुलाकात हुई। भाबी ने उससे कुछ नरम उत्तर दिया—"आप लोग कर रहे हैं तो बहुत अच्छा है। कुछ होता देखूंगी तो मैं भी साथ हो जाऊंगी।" इसका कारण मुझे उस समय यही जान पड़ा कि मेरे सम्बंध में उन्हें जाने क्या-क्या बातें सुनने को मिली होंगी। वे अधिकतर सुखदेवराज के ही सम्पर्क में रही थीं।

गुप्त और रहस्य की अवस्था में रहने वालों के बारे में रहस्यमय बातें बन ही जाती हैं। गैरजिम्मेवार लोगों का तो कहना ही क्या। उस समय तक समाचार पत्रों में भी दो बार यशपाल की गिरफ्तारी के समाचार पढ़ चुका था। यह भी सुना कि कुछ हमारे मेहरबानों ने सहृदय लोगों से यह कह कर कि यशपाल और प्रकाशवती बड़े संकट की

अवस्था में हैं, प्रकाशवती को एक बच्चा हो गया है, रातें पेड़ों के नीचे काटनी पड़ती हैं आदि, काफी रुपया हमारी सहायता करने के नाम पर ले लिया था। यह धन कभी हम लोगों तक नहीं पहुंचा। दूसरी ओर यह भी सुना कि यशपाल शराब की बोतलें पी जाता है। दल के नाम पर हजारों रुपया लेकर उड़ा रहा है।

शराब के अपवाद के किस्से का आधार यह था कि उन दिनों दिल्ली में पंचकुइय्यां सड़क पर अपने पुराने साथी आनन्दस्वामी जी से भेंट हो गयी थी। आनन्दस्वामी वैद्यक सीख कर कुछ आयुर्वेदीय अमोघ औषधियां बनाने लगे थे। मिलने पर उन्होंने मेरे गिरे हुये स्वास्थ्य के लिये बहुत चिंता प्रकट की। उन्होंने कुछ पुड़ियां और चार बोतलें एक प्रकार के बसंती से रंग के अर्क की दे दीं। यही बोतलें शराब समझ ली गयीं। सफाई देने की जरूरत तो नहीं परन्तु १९४१ (सेवाग्राम में गांधी जी से भेंट के दिन) तक मेरे मन में शराब के प्रति एक भयंकर विरक्ति थी। बियर की भी एक बूंद तक मैं अक्षम्य समझता था। उस दिन संध्या नागपुर में ही समझा कि यह कठमुल्लापन भी एक प्रकार का अन्धविश्वास है। पर अफवाहों का क्या किया जा सकता था। कपड़े तो लोगों ने ऐसे ही बनवा दिये थे जिनसे समृद्धि या फिजूलखर्ची का आभास हो सकता था।

कृष्णशंकर और राजेन्द्रसिंह ने सूचना दी—कानपुर के लोग भी चाहते हैं कि एक बार फिर संगठन सम्बन्धी बातें तय कर ली जायें और फिर संयुक्त रूप से और उचित ढंग से काम हो। मिलने के लिये लोगों ने गढ़मुक्तेश्वर तीर्थ और समय गंगा-स्नान का मेला निश्चित किया। वहीं मेले में विचार के लिये मिलना तय हुआ। जनवरी के आरम्भ की कड़ी सर्दी थी। मैं और प्रकाशवती दोनों इस बैठक में गये थे। बैठक में इतने अधिक लोगों को देखकर कुछ विस्मय हुआ। इससे पूर्व ऐसी बैठकों में प्रति-निधि रूप में सात-आठ से अधिक आदमी नहीं होते थे। सुरेन्द्र पांडे, माशी मां आदि भी आये थे। पंजाब से पांडे की बहिन और कुछ लोग, जिन्हें मैं जानता नहीं था, आये थे। मेरे मन में आशंका उठी कि पांडे दल-बल लेकर आया है कि बहुमत से अपनी बात मना सके। मन में खामखाह क्रोध भर आया कि मुझे यहां बुला कर बेवकूफ बनाना चाहते हैं।

पांडे ने लम्बे वक्तव्य से परिस्थिति स्पष्ट करना आरम्भ किया। सैद्धान्तिक मतभेद मुझे पांडे से कुछ नहीं था। परन्तु मुझे यह स्वीकार नहीं था कि पांडे सिद्धान्तों और संगठन का काम सम्भाल कर केवल खतरे का सामना करने की जिम्मेवारी मुझ पर डाल दे। पांडे ने सैद्धान्तिक और सशस्त्र दोनों ही तरह के कामों की आवश्यकता स्वीकार कर साफ-साफ कह दिया कि सशस्त्र काम के लिये वह स्वयं को अयोग्य

समझता है। अपने अनुभव के आधार पर दल का केवल सैद्धान्तिक और संगठनात्मक नेतृत्व वह कर सकता है। सशस्त्र संगठन और कार्य के लिये यशपाल सब से उपयुक्त है। उसने कहा, हमें कार्यक्रम का सामूहिक रूप से निश्चय कर लेना चाहिये। पांडे की बात मुझे असंगत लगने का कारण यह था कि इससे पूर्व सैद्धान्तिक और सशस्त्र कार्य के संगठनों को अलग-अलग रखने की आवश्यकता नहीं समझी गयी थी। इस समय मुझे यह ध्यान न आया कि सैद्धान्तिक रूप से हम उतने सचेत पहले हुए भी तो नहीं थे।

पांडे ने बात ऐसे ढंग से कही थी कि सौजन्य और तर्क के नाते उसका विरोध करते नहीं बनता था परन्तु मैंने आपत्ति की—"दोहरे नेतृत्व की कोई जरूरत नहीं है। अपने लक्ष्य और सिद्धान्त हम जानते हैं। जहां तक इस विषय में बहुमत से निर्णय कर लेने का प्रश्न है, यहां बहुत से लोग ऐसे भी हैं जिन्हें हम जानते ही नहीं। निर्णय के लिये वोट केवल मेम्बरों को देना चाहिये।" मेरा संकेत विशेष रूप से पांडे की बहिन और पंजाब से आये, मुझसे अपरिचित साथियों की ओर था।

राजेन्द्रसिंह ने मेरा विरोध किया—"मेम्बर का क्या मतलब है? जो जान लड़ा कर काम करने लिये तैयार हैं, सभी मेम्बर हैं और उन्हें राय देने का अधिकार है।" सभी ने उसका समर्थन किया। मुझे चुप हो जाना पड़ा।

उसी समय सुरेन्द्र की बहिन बोल पड़ी—"मेरा प्रस्ताव है कि नेता एक ही होना चाहिये। कमाण्डर-इन-चीफ ही सब बातों का और कार्यक्रम का निश्चय करे..।" और कमाण्डर-इन-चीफ के पद के लिये उसने मेरा नाम रख दिया। सभी ने, स्वयं पांडे ने भी उसका समर्थन कर दिया। मुझे अपने व्यवहार पर बहुत लज्जा अनुभव हुई।

पांडे ने फिर भी सैद्धान्तिक पहलू की उपेक्षा न करने पर जोर दिया। यह भी तय हो गया कि पांडे हमारे सिद्धान्तों के अध्ययन और उनके लिये सार्वजनिक आधार बनाने के लिये विशेष रूप से काम करे। इस बैठक में हम लोगों ने यह भी तय किया कि हमारे भावी कार्यक्रम का रूप आतंकवादी न होकर गोरिल्ला युद्ध के रूप में क्रांति का प्रयत्न हो। हम अंग्रेज़ी सरकार के विरोध को सार्वजनिक सशस्त्र संघर्ष का रूप दें।

इस बैठक के बाद कृष्णशंकर ने मुझे बताया कि बंगाल के साथियों का भी एक प्रतिनिधि हमसे सम्बन्ध स्थापित करने के लिये आना चाहता था पर इस समय उसका पहुंचना सम्भव न हो सका। वे लोग भी मुझ से मिलना चाहते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश में कुछ करने की एक योजना उनके सामने है। इस सम्बन्ध में जरा विस्तार से बात करना आवश्यक है। मैंने २२ जनवरी की संध्या इलाहाबाद पहुंचने का वचन दे दिया।

भविष्य के कार्यक्रम के सम्बन्ध में गढ़मुक्तेश्वर के निश्चय के अनुसार, हमारी

कल्पना केवल गिने-चुने पिस्तौल-रिवाल्वरों और बमों पर भरोसा न करके विद्रोह को सार्वजनिक रूप देने की थी। अंग्रेजी शासन व्यवस्था की नींव पुलिस के थाने और सैनिक छावनियां थीं। देहरादून आकर मैंने एक नया घोषणापत्र लिखा। इसका सार और भाव इस प्रकार था—

"हि० स० प्र० स० की शक्ति जगह-जगह बिखरे हुए कुछ सशस्त्र नौजवान ही नहीं हैं बल्कि देश के करोड़ों आदमी, जिनके हृदय अंग्रेजी शासन के अत्याचार और कलंक से जल रहे हैं, देश की आजादी के लिये लड़ने वाली शक्ति हैं। देश के सभी श्रम करने वाले किसान और मजदूर जो आर्थिक और राजनैतिक पराधीनता में अपनी मेहनत का फल नहीं पा सकते और मनुष्यों जैसे जीवन से वंचित हैं परन्तु मनुष्य बन कर जीवित रहना चाहते हैं, इस देश के स्वतंत्रता के युद्ध की सेना हैं। हि०स०प्र०स० ऐसे सभी व्यक्तियों और समूहों से स्वतन्त्रता के लिये लड़ाई के प्रयत्न में सहयोग की आशा रखता है।

"आपके इलाके में अंग्रेज शासन का केन्द्र थाना या सैनिक छावनी आपके दमन, आपकी परतन्त्रता की बेड़ी और कलंक हैं। इन स्थानों को नष्ट कर के अंग्रेजी शासन को असम्भव बना देने की जिम्मेवारी आप पर है। विदेशी शासन पर चोट करने के लिये राइफलों और बमों की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। विदेशी सरकार के कब्जे में जितने हथियार हैं, वे आप के ही हैं। जो भी साधन आपके हाथ में हों, वही आपके शस्त्र हैं। इस क्रान्ति का मार्ग शोलापुर और चौरी चौरा ने आपको दिखा दिया है। आपको किसी के आदेश की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। अंग्रेज सरकार पर प्रत्येक चोट देश की आजादी का काम है। देश के पैंतीस करोड़ लोगों की ऐसी इच्छा की कोई शक्ति दबा नहीं सकती।

"अंग्रेजी सरकार की नौकरी करके देश को गुलामी में बांधने वाले लोगों को यह चेतावनी है कि उनका काम देशद्रोह है। ऐसे लोगों के सामने वीर गढ़वालियों ने पेशावर में कर्तव्य का उदाहरण पेश कर दिया है। देश की शत्रु सरकार की सेवा और सहायता कर्तव्य समझना देशद्रोह है। अपने पेट के लिये ऐसा देशद्रोह करने वाले को दण्ड देने का अधिकार प्रत्येक देशभक्त को है। हमारा लक्ष्य देश से देशी-विदेशी शोषण को समाप्त करना और देश के सब परिश्रम करने वालों को आत्म-निर्णय का अधिकार देना है जिसमें सभी स्त्री-पुरुषों को समान रूप से रोजी कमाने, विकास करने और अपने परिश्रम का पूरा फल पाने का अवसर होगा।"

(ह०) यशपाल, कमाण्डर-इन-चीफ, हि०स०प्र०स०

इस से पूर्व हि०स०प्र०स० के घोषणापत्रों पर आज़ाद 'बलराज' के कल्पित नाम

से हस्ताक्षर करते थे। आज़ाद के शहीद हो जाने की बात सभी को मालूम थी और जगह-जगह मुखबिरों के बयानों से यह भी मालूम हो चुका था हि० स० प्र० स० के कमांडर-इन-चीफ चन्द्रशेखर आज़ाद थे। इस घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने वाला व्यक्ति काल्पनिक न जान पड़े इसलिये मैंने इस पर अपने असली नाम से हस्ताक्षर किये। पत्रों से यह सभी को मालूम हो चुका था कि फरार यशपाल एक वास्तविक व्यक्ति है, कल्पित व्यक्ति नहीं। यह भी कहा जा सकता है कि इसमें मेरा अहंकार और प्रसिद्धि प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा छिपी थी। लेकिन इस कार्य में अंग्रेजी सरकार के क्रोध को निमन्त्रण भी कम नहीं था। इसमें पहले हम अपने घोषणापत्र केवल अंग्रेजी में प्रकाशित करते थे। इस बार मैंने इसे मुख्य रूप से हिन्दी और उर्दू में छपाये जाने का आग्रह किया।

मैंने सोचा कि अब काम करना है तो देश के एक कोने, देहरादून में रहने से नहीं हो सकेगा। उस समय देहरादून आज की तरह भीड़ और कोलाहल से भरा बड़ा नगर नहीं, एक शांत उपवन-सा था। प्राय: वयप्राप्त, कामकाज से छुट्टी लिये हुये लोगों की जगह थी जहां कल्पना और कला की साधना सुविधा से की जा सकती थी। देहरादून छोड़कर दिल्ली में रहने का निश्चय किया। जनवरी में प्रकाशवती और मैं दोनों ही दिल्ली आ गये। दिल्ली में अभी कोई जगह नहीं ली थी। हम सूरी परिवार के मकान में ही टिके हुये थे। इलाहाबाद से लौट कर जगह ठीक करने का विचार था।

जनवरी २२ सुबह की गाड़ी से इलाहाबाद जाना था। उस रात सूरी परिवार के मकान में बैठक की तरह उपयोग होने वाले बड़े कमरे के फर्श पर ही बिस्तर लगा कर सो गया था। सुबह जल्दी उठा तो समीप ही भगत जी (श्रीकृष्ण सूरी के पिता) कम्बल ओढ़े बैठे थे। उन्हें दमे का कष्ट था। नींद कम आती थी। मैं बात करने लगा—"भगत जी, रात बहुत विचित्र स्वप्न देखा है।" भगत जी को रात देखा स्वप्न सुनाया—"मैं गिरफ्तार हो गया हूं। मुझे फांसी पर लटकाया जा रहा है।" उस समय तक फांसी लगाने की व्यवस्था देखने का अवसर न हुआ था। उसके विषय में सुना ही था। स्वप्न में दिखाई दिया था कि चारों ओर हथियारबन्द पुलिस खड़ी है। दो शहतीरों के ऊपर रखी एक शहतीर से लटकी खूब सफेद सूत की रस्सी का फंदा मेरे गले में डाल दिया है। मुझ से अंग्रेजी में पूछा गया—तुम्हें कुछ कहना है? मैंने उत्तर दिया—मुझे कुछ नहीं कहना। इसके बाद मेरे पांवों के नीचे के तख्ते को कई बार खींचा गया पर वह हटा नहीं और मेरी आंख खुल गयी।

भगत जी ने स्वप्न सुन कर इसका अर्थ बताया कि कोई आपत्ति मुझ पर आने वाली थी लेकिन टल गयी है। आपत्ति आने की आशंका तो बनी ही रहती थी और

लोगों से सुन-सुन कर यह भी विश्वास था कि या तो गिरफ्तार होते समय लड़ते हुये मारा जाऊंगा वर्ना फांसी तो मुझे हो ही जायगी। आज़ाद की तरह अपनी आखिरी गोली स्वयं सिर में मार लेने का विचार मुझे कभी नहीं आया। शायद उतना साहस न था।

इलाहाबाद गाड़ी रात नौ-साढ़े नौ पहुंचती थी। कृष्णशंकर श्रीवास्तव ने इलाहाबाद अपने मिलने का पता हिवेट रोड, कृष्णा होटल के ऊपर, आयरिश महिला सावित्री देवी का मकान बताया था। मेरा इरादा था कि अपनी पुरानी परिचित जगहों पर ही कहीं ठहर जाऊंगा। कृष्णशंकर से सुबह मिल लूंगा। परन्तु वह स्टेशन पर ही लेने आ पहुंचा था। मुझे यह आदर कुछ अधिक ही जान पड़ा। वह लेने आया था तो उसी के साथ जाना पड़ा। उस ने मुझे आयरिश महिला के ही मकान पर पहुंचा दिया। यह स्थिति मुझे उसी समय खटकी। खटकी इसलिये कि देशी पोशाक और देशी बस्ती में रहने वाली योरुपियन महिला की ओर सभी का ध्यान जाना स्वाभाविक था। मेरे वहां जाने से मेरी ओर भी ध्यान आकर्षित होता। मैं ऐसी स्थिति से सदा बचने की कोशिश करता था। सावित्री जी ने इतनी आत्मीयता से आतिथ्य किया कि कुछ कह ही नहीं सकता था।

मैं सो जाने की तैयारी करने लगा। अपना गरम कोट खूटी पर टांग दिया था। आज़ाद का मुझे विशेष रूप से दिया आठ गोली का बड़ा पिस्तौल और फालतू मैगजीन इसी कोट की जेब में थे। सोते समय मैं अपना पिस्तौल और मैगजीन तकिये के नीचे रख लेता था।

रात बिस्तर में सोते समय अपना पिस्तौल तकिये के नीचे रख लेना मेरी आदत बन गयी थी। पिस्तौल तकिये के नीचे मौजूद होने की चेतना नींद में भी बनी रहती थी। इस के परिणाम स्वरूप एक बार विकट घटना होते-होते रह गयी थी। कह चुका हूं, उस साल बरसात में हम लोग देहरादून के खुड़बड़े मुहल्ले में थे। एक रात बराम्दे में सो रहे थे। मेरी चारपाई से प्राय: पांच-छ: फुट परे सूरी की बड़ी बहिन अपने कुछ मास के बच्चे के साथ सो रही थीं। बीच में स्टूल पर हरीकेन लालटेन जल रही थी। नींद में खटमल काट जाने से बच्चा रो पड़ा। मां ने उठ कर बिस्तरे से खटमल बीनने शुरू किये। उन की नजर मेरे तकिये की ओर गयी तो उन्हें वहां भी एक मोटा खटमल चलता दिखाई दिया। खटमल काटने से मैं भी परेशान होऊंगा, इस विचार से वह मेरे तकिये से खटमल उठाने लगीं। खटमल तकिये के नीचे घुस गया। खटमल को पकड़ने के लिये उन्होंने तकिये का सिरा उठाया ही था कि मैंने नींद की अर्द्ध-चेतना में अपना हाथ मार कर उन का हाथ परे हटा दिया। दूसरे हाथ से पिस्तौल लेकर

उन की ओर लक्ष्य किया ही था कि वे चिल्ला उठीं—"भैया···!" तब तक मैं सुध में आ गया।

श्रीवास्तव ने कहा—"मैं मिलने वालों से सुबह का समय और स्थान निश्चय करने जा रहा हूं। अब सुबह ही पांच-साढ़े पांच लौटूंगा।" वह जाने के लिये उठा तो उसने अपना अलवान (सस्ता शाल) एक ओर डाल दिया और कहा—"भैया, बड़ा जाड़ा है। तुम्हारा कोट पहन जाऊं?"

मैंने उसे पिस्तौल निकाल कर मुझे दे देने और कोट ले जाने के लिये कह दिया। श्रीवास्तव ने दीवार के समीप पड़े रिवाल्वर की ओर संकेत कर कहा—"यह है रिवाल्वर। मदर के पास और भी है।" श्रीवास्तव सावित्री जी को मदर या मां कह कर सम्बोधन करता था। वे भी उसे पुत्र ही मानती थीं। वह सुबह तड़के जल्दी लौटने के लिये कह कर चला गया।

उस के जाते ही समीप पड़े रिवाल्वर को तकिये के नीचे रखने से पहले मैंने गोलियां निकाल कर खाली चला कर देखा तो पाया कि उस की चर्खी अटकती थी पर दूसरे हाथ से घुमा देने से चल पड़ती थी। दो-तीन बार रवां करके देखा और रिवाल्वर तकिये के नीचे रख कर सो गया। दूसरे रिवाल्वर के विषय में मैंने कुछ न पूछा।

सुबह जल्दी नींद खुल जाने की मेरी आदत बचपन से चली आ रही है। नींद खुलने पर घड़ी देखी, सवा पांच बजे थे। देखा कि सावित्री जी भी उठ बैठी हैं। उन्होंने पूछा—"चाय बनाऊं?" उठते ही बिस्तरे में एक प्याला चाय मिल जाना भी अच्छा लगता है। वे स्प्रिरिट-स्टोव जला कर चाय बनाने लगीं। खयाल आया, श्रीवास्तव आता ही होगा।

सावित्री जी की जगह दूसरी मंजिल पर थी। जीने पर आहट मालूम हुई। अनुमान किया, श्रीवास्तव होगा पर आहट कुछ अधिक जान पड़ी।

"कोई आ रहा है?" सावित्री जी बोलीं।

"यह तो कई लोगों के आने की आहट है?" मैंने उत्तर दिया।

तुरंत दरवाजा खटका और खटकाने के ढंग में धमकी-सी जान पड़ी।

"कौन है?" सावित्री जी ने अंग्रेजी में पूछा।

"दरवाजा खोलो!" दूसरी ओर से अंग्रेजी में हुक्म आया।

"मैं पूछती हूं, कौन है?"

"पुलिस! जल्दी दरवाजा खोलो!"

रोयें खड़े हो गये। मेरे मस्तिष्क में बिजली-सी दौड़ गयी—अंतिम समय आ गया!

सावित्री जी ने मेरी ओर शंका से देख कर दरवाजे की ओर उत्तर दिया—"पुलिस

को यहां क्या काम है ?"

"हम मकान की तलाशी लेना चाहते हैं। जल्दी खोलो नहीं तो दरवाजा तोड़ दिया जायगा।" बातचीत अंग्रेज़ी में हुई।

सावित्री जी ने मेरी ओर देखा।

"आप दरवाजा खोल दीजिये और एक तरफ हट जाइये। मैं लड़ूंगा। आप बीच में न आइयेगा। आप दरवाजा खोलिये।" मैंने तकिये के नीचे से रिवाल्वर लेते हुये कहा।

सावित्री जी दरवाजे की ओर गयीं। मैंने रिवाल्वर दरवाजे की ओर साधा। मतलब था, दरवाजा खुलते ही भीतर आने वाले पर गोली चला सकूं। तुरन्त ख्याल आया, पहिले गोली सावित्री जी को ही लगेगी। । दूसरी जगह देखूं। मैं भीतर के कमरे की ओर गया। ऐसे समय तर्क के लिये अवसर नहीं रहता। पहले से बने विचार ही काम करते हैं। मन में दोनों ही बातें थीं, भाग जाने की कोई राह मिले तो भाग जाऊं, नहीं तो आड़ लेकर अच्छी तरह लड़ूं।

मकान से अपरिचित था। पिछले कमरे के साथ बगल में छोटा आंगन था। आंगन में पहली बार इसी समय गया। सामने अपने सिर से ऊंची नालीदार टीन की दीवार थी। हाथों का जोर देकर इस दीवार पर से कूद रहा था। पीठ पीछे से गोली चलने की आवाज आयी और मेरे सिर के ऊपर से सनसनाती हुई एक गोली निकल गयी। दूसरी ओर चकले पत्थर के फर्श पर पांव लगते ही समीप फर्श पर एक गोली आकर लगी।

मैंने मुड़कर उकड़ूं बैठ कर देखा कि एक योरुपियन टीन की दीवार के कोने से मुझ पर पिस्तौल से गोली चला रहा है। मैंने उसकी ओर गोली चलायी। योरुपियन का सिर नीचे छिप गया। नीचे गली से धड़ाधड़ कई राईफलें चलने की आवाजें आने लगीं।

ज्यों ही योरुपियन दीवार के ऊपर सिर निकाल कर मुझ पर गोली चलाता, मैं भी उस पर गोली चला देता। मेरे हाथ का रिवाल्वर अड़ रहा था। उसे हर बार दूसरे हाथ से चालू करना पड़ता था। मेरा प्रतिद्वन्द्वी दो गोलियां मार लेता, इतने में मैं एक ही चला पता। इस रिवाल्वर में छ: ही गोलियां थीं। जल्दी में और गोलियां नहीं ले सका था। गोलियां समाप्त हो गयीं। मुझ पर चलायी गयी कोई भी गोली मुझे नहीं लगीं। कुछ तो योरुपियन को अपने बचाव की घबराहट थी, कुछ अंधेरे के कारण। यही स्थिति मेरी भी थी। मेरी गोलियां समाप्त हो जाने पर जब योरुपियन ने सिर निकाल कर मुझ पर गोली चलायी तो मैंने खाली रिवाल्वर उस पर दे मारा।

इस बार योरुपियन से सिर उठाया तो पिस्तौल मेरी ओर साध कर भी उसने गोली नहीं चलायी और बोला—"Now you are unarmed." (अब तुम्हारे पास हथियार नहीं है।)

वह एक क्षण के लिये ठिठका। उसका स्वर बदल गया—"अच्छा, इस ओर आ जाइये।...मैं मदद करूं?" योरुपियन अफसर ने किसी ऊंची चीज पर पांव रख कर अपना हाथ सहायता के लिये टीन की दीवार के इस ओर लटका दिया।

"धन्यवाद!"

मैं सहायता के बिना ही उस ओर जाने के लिये दीवार पर उचका और उस ओर कूद गया। अब देखा कि टीन की दीवार को थामने के लिये दीवार के साथ डेढ़-दो फुट ऊंची थूनी बनी हुई थी। योरुपियन इसी थूनी पर पांव रख कर टीन की दीवार के ऊपर से गोली चला रहा था और मुझे सहायता देने के लिये भी उसने उस थूनी पर पांव रख कर मेरी ओर हाथ लटकाया था।

"कोई चोट तो नहीं लगी?" योरुपियन ने मुझसे पूछा।

"नहीं, धन्यवाद। आशा है, आपको भी चोट नहीं लगी होगी।" मैंने कहा।

योरुपियन ने घुटने के पास मेरे पायजामे पर बने खून के धब्बे की ओर संकेत किया—"यह दाग कैसा है?"

मैंने टटोल कर देखा और उत्तर दिया—"कुछ नहीं, टीन से खोंच लग गयी है।"

योरुपियन ने अपना परिचय दिया—"मेरा नाम डी० पिल्डिच है। मैं स्पेशल पुलिस का सुपरिन्टेन्डेन्ट हूं। मैं जानता हूं, आप मिस्टर यशपाल हैं।"

"धन्यवाद।"

इसी समय एक थानेदार या हैड कांस्टेबिल एक अंगोछा बंटते हुए मेरे हाथ बांध दे के लिये आगे बढ़ा। पिल्डिच ने उसे पीछे हटने के कह कर मुझे सम्बोधन किया—"मैं समझता हूं, इसकी कोई जरूरत नहीं। क्या खयाल है?"

"जैसा आप उचित समझें। मेरे खयाल में तो नहीं है।"

पिल्डिच ने कहा—"आप बिस्तर से ही उठे हैं। कपड़े पहन लीजिये। हम प्रतीक्षा करेंगे।"

मैं सोते समय केवल कमीज-पाजामा पहने था। "जरूरत नहीं ऐसे ही ठीक है," मैंने उत्तर दिया, "ऐसे ही रहता हूं।"

"नहीं नहीं, हम जानते हैं आप ढंग से कपड़े पहनते हैं। कोई जल्दी नहीं है। कपड़े पहन लीजिये। बहुत सर्दी भी है।"

"मैं एक कम्बल ले लूंगा, बस!"

"जैसी आपकी इच्छा ।"

चलते समय मैंने सावित्री जी को नमस्कार कर क्षमा मांगी—"खेद है, मेरी वजह से आप को भी कष्ट हुआ ।"

सावित्री जी ने सिर ऊंचा कर उत्तर दिया—"खेद नहीं इस बात के लिये मुझे गर्व है ।" और पिल्डिच की ओर संकेत कर कहती गयीं, "मैं इन अंग्रेज अत्याचारियों से बहुत घृणा करती हूं ।"

स्पष्ट ही था कि सावित्री जी को मुकदमे में अज्ञान की आड़ लेकर सजा से बच जाने की चिन्ता नहीं थी ।

पिल्डिच ने थानेदार को हुक्म दिया—"इस घर की तलाशी लेकर मुनासिब कारवाई की जाय ।" और मुझे लेकर एक दूसरे अफसर और तीन-चार कांस्टेबलों के साथ मकान के जीने से नीचे उतर गया । नीचे सड़क पर एक कार और दो-तीन पुलिस लारियां खड़ी हुई थीं । कांग्रेस का झण्डा लिये कुछ लोग विस्मय में एक ओर खड़े थे । यह राष्ट्रीय सप्ताह (२६ जनवरी) की प्रभातफेरी करने वाला दल था । वे लोग देश की स्वतन्त्रता की पुकार कर रहे थे । अपने ढंग से मैं भी यह ही कर रहा था परन्तु हम एक-दूसरे के लिये बेगाने थे । गोलियों की आहट से कुछ और लोग भी इकट्ठे हो गये थे ।

एक कार में पहले पिल्डिच बैठा । बीच में मुझे बैठाया गया । मेरी दूसरी ओर एक और अफसर बैठा । ड्राइवर के साथ सशस्त्र सिपाही था । गाड़ी चल पड़ी । आगे और पीछे एक-एक पुलिस लारी चल रही थी । कुछ ही दूर जाकर पिल्डिच ने मेरे दूसरी ओर बैठे अफसर का परिचय कराया । यह एक डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट मि० मिश्र थे ।

मिश्र जी बात करने लगे—"आप पंजाबी हैं न ? मैं पंजाब में बहुत दिन रहा हूं । पंजाबी स्वभाव से बहादुर होते हैं ।" वे पंजाबी में बोलने लगे, "बहुत सर्दी है । चल कर चाय पियेंगे या लस्सी ? पंजाबियों को सर्दी में भी लस्सी ही भाती है ।"

मैंने जरा सख्ती से मिश्र जी की ओर देख कर अंग्रेजी में उत्तर दिया—"मुझे इस तरह के मज़ाक पसन्द नहीं हैं ।"

मिश्र जी चुप हो गये और एक क्षण बाद उन्होंने उत्तर दिया—"I am sorry." (मुझे खेद है)।

मिश्र जी की बात से चिढ़ जाने में कोई तुक नहीं थी । कोई मज़ाक भी नहीं था । मेरा यह व्यवहार हार कर या मार खाकर भी सम्मान बनाये रखने का व्यर्थ प्रयत्न था ।

गाड़ी कैनिंग रोड पुलिस स्टेशन के भीतर पहुंच गयी । ड्यूटी के लोग दौड़ आये ।

पिल्डिच ने हवालात की एक कोठरी में एक कुर्सी और छोटी मेज रख दी जाने का हुक्म दिया। मुझ से पूछा—"चाय लाने के लिये कह दूं?"

"जी हां, धन्यवाद।"

"कोई जरूरत हो तो आप मुझे सन्देश भेज सकते हैं। शायद मैं स्वयं ही मिलूं।"

पिल्डिच और मिश्र जी चले गये और हवालात की कोठरी का लोहे की छड़ों का दरवाज़ा बन्द हो गया। एक सिपाही संगीन चढ़ी राइफल लेकर सामने पहरे पर खड़ा हो गया।

हमारे साथियों का विश्वास था कि मैं विश्वासघात के कारण पकड़ गया हूं। मेरे जेल में रहते समय मुकदमे की पैरवी करने वाले वकीलों की मार्फत इस सम्बन्ध में मुझ से भी पूछा गया। जैसे मैंने घटना का वर्णन किया है, मुझे उस समय कृष्णशंकर श्रीवास्तव पर सन्देह था—उस का मुझे सावित्री जी के यहां लाकर टिका देना, मेरा पिस्तौल लेकर चले जाना और सुबह पुलिस का आ पहुंचना, पिल्डिच का स्वयं ही कहना कि आप मिस्टर यशपाल हैं आदि बातें बहुत स्पष्ट थीं। मेरे इलाहाबाद आने की बात केवल कृष्णशंकर को ही मालूम थी। यह समाचार किसी अन्य को उसी से मिल सकता था।

सावित्री जी पर तो मैंने स्वप्न में भी सन्देह नहीं किया। मुझे आश्रय देने के कारण उन्हें चार वर्ष जेल की सजा मिली थी। जेल में रहते समय मैंने अफवाह सुनी थी कि किसी ने कृष्णशंकर पर गोली भी चलायी थी पर सफल न हुआ। बाद में वह अपनी रक्षा के लिये सत्याग्रह में जेल चला गया था।

जेल से छूटने पर भी जब लोगों ने यही प्रश्न मुझ से पूछा मेरा उत्तर था—"अब सब समाप्त हो चुका है। इस झगड़े को उठाने की जरूरत नहीं।" बहुत दिन तक सोचते-सोचते यह भी खयाल आने लगा था कि सम्भव है उस रात कृष्णशंकर ने जाकर जिन आदमियों से बात की हो, उन्हीं ने पुलिस को खबर पहुंचा दी हो। कृष्णशंकर इतना तो समझ ही सकता था कि मेरे सावित्री जी के यहां गिरफ्तार होने पर वे भी जरूर मुसीबत में फंसेंगी। सावित्री जी के लिये कृष्णशंकर के मन में कुछ आदर होना ही चाहिये था। सावित्री जी उस पर अन्धविश्वास करती थीं। उन्होंने केवल कृष्णशंकर पर कभी सन्देह नहीं किया बल्कि १९३८ में मेरी रिहाई के बाद जब मैं भुवाली में था, वे कृष्णशंकर को लेकर मेरे पास आयीं। उन्होंने अनुरोध किया कि मैं लिख कर दे दूं कि मुझे कृष्णशंकर श्रीवास्तव पर सन्देह नहीं है।

मैंने उस समय भी उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की। मेरे कारण उन्हें पहुंचे कष्ट के लिये खेद प्रकट किया और कहा—"मैं अब यह नहीं कह सकता कि सोलह आने

निश्चय ही कृष्णशंकर श्रीवास्तव ने मेरे साथ विश्वासघात किया है। मुझे मालूम नहीं पुलिस को सूचना किसने दी है इसलिये मैं यह लिखकर भी नहीं दे सकता कि कृष्ण-शंकर श्रीवास्तव ने यह काम नहीं किया।"

सावित्री जी के मकान पर गिरफ्तार होते समय जब मैंने अपने कारण उन्हें होने वाली परेशानी के लिये खेद प्रकट किया था तो उन्होंने उत्तर दिया था—कोई खेद नहीं। मुझे इसके लिये गर्व है। जेल में रहते समय भी मेरी वकील श्यामकुमारी नेहरू मजाक किया करती थीं—"तुमने बुढ़िया पर क्या जादू कर दिया है। सुना है वह हवालात की कोठरी में तुम पर कविता लिखा करती है।" लेकिन १९३८ में कृष्णशंकर के पक्ष में उनका अनुरोध पूरा न कर सकने के बाद मैंने सुना कि अब वे लोगों से कहती थीं—यशपाल बड़ा नीच और कृतघ्न है। अफसोस, मैंने उसके लिये कष्ट सहा।

भारत में सशस्त्र क्रान्ति के लिये हिन्दुस्तानी समाजवादी प्रजातन्त्र सेना द्वारा किये गये प्रयत्नों से सम्बद्ध मेरे संस्मरण तो मेरी गिरफ्तारी की घटना से ही समाप्त हो जाते हैं परन्तु पाठकों की जिज्ञासा के विचार से कुछ और प्रसंगों की चर्चा भी संगत हो सकती है। उदाहरणत: जेलों में क्रान्तिकारियों के अनुभव और फिर कांग्रेसी शासन में उनकी जेलों से रिहाई की समस्यायें तथा बदली हुई परिस्थितियों में हमारे साथियों के विचार-व्यवहार।

जेल में

हवालात और पुलिस

इलाहाबाद में हिवेट रोड पर सावित्री जी के मकान से गिरफ्तार कर मुझे कैनिंग रोड के पुलिस थाने में पहुंचा कर हवालात में बन्द कर दिया गया। भय और उत्तेजना की परिस्थितियों का प्रभाव निश्चय ही मेरे व्यवहार पर पड़ा। परिस्थितियों का मतलब उस समय मेरे चारों ओर की स्थिति से है, साथ ही मेरे मन में बैठी धारणाओं और आशंकाओं से भी हैं। मुख्य धारणा या आशंका थी कि लाहौर षड़यन्त्र के मामले में यदि सुखदेव को फांसी की सजा दी गयी है तो लाहौर, दिल्ली, कानपुर के मुकदमों को मिला कर मुझे वह सजा न दी जाने का कोई कारण नहीं; इस धारणा में दूसरे लोगों का विश्वास भी सहायक था। मुझे जानने वाले प्राय: सभी लोगों का ऐसा ही अनुमान या चिंता थी। यह भी आशंका थी कि पुलिस मुझे अधिक से अधिक कष्ट देकर मुझ से अनेक घटनाओं और दूसरे लोगों की बाबत जानना चाहेगी। इन आशंकाओं के परिणाम स्वरूप धारणा थी—मुझे मृत्यु के लिये और सभी सम्भव यातनायें सहने के लिये तैयार रहना चाहिये। मैंने अपना बस चलते कोई कसर नहीं छोड़ी है। अपने शत्रु से भी मुझे ऐसे ही व्यवहार की आशा करनी चाहिये। अपने वैयक्तिक सम्मान और अपने दल के सम्मान के प्रति मेरा कर्तव्य है कि मैं कष्ट को दृढ़ता और साहस से सह कर आत्मसम्मान को सुरक्षित रखूं। यदि मैं तिल भर भी दबा तो फिर संभलने का अवसर न रहेगा। अपने कर्तव्य और सम्मान की अति सतर्कता की चिंता से मेरे व्यवहार में अनावश्यक उग्रता आ जाना भी विस्मय की बात न थी।

हवालात का दरवाजा बन्द होने के प्राय: दस मिनट बाद एक सिपाही ने आकर पुकारा—"यह चाय ले लो।"

मैं दरवाजे की ओर पीठ किये बैठा था । पलट कर देखा, अलुमीनियम का मैला गिलास दरवाजे के सींखचों से भीतर रख दिया गया था । इस प्रकार चाय दिया जाना तिरस्कार लगा । सिपाही दो-चार कदम ही लौटा होगा । मैंने वह गिलास उठा कर जंगले से बाहर फेंक दिया ।

पांचेक मिनिट बाद दारोगा साहब आये । वे सहानुभूति से बोले—"चाय आप ने फेंक दी ?"

"मैं ऐसी चाय नहीं पीता हूं ।" उत्तर दिया ।

"अच्छा, ट्रे में भिजवा दी जाय ?"

"जी हां !"

कुछ देर बाद, शायद नजदीक के किसी होटल से, ट्रे में चाय की केतली, दूध और शकर अलग-अलग और प्याली वगैरा आ गये । दरोगा साहब ने मुआफी भी मांग ली—"यह लोग जंगली जानवर हैं, चाय पीना क्या जानें !" दारोगा जी की इस सौजन्यता का कारण मेरे संकट झेलने के उद्देश्य से सहानुभूति थी या मुझे सुसंस्कृत समझना था ! खैर मैं जंगली जानवर की तरह सींखचों में बन्द हो ही चुका था ।

आधे-पौने घंटे के करीब और गुजरा होगा । कोठरी के बाहर बहुत दौड़-धूप और मुस्तैदी जान पड़ी । दो सिपाही राइफलों पर संगीनें चढ़ा कर जंगले के साथ खड़े गये । हवालात का दरवाजा खुला । दो अंग्रेजों ने कोठरी में प्रवेश किया । एक जरा भारी से कद का नाटा-सा और दूसरा अच्छा कद्दावर था । दोनों ही प्रौढ़ थे ।

"गुडमार्निंग, आखिर तुम पकड़े ही गये (At last we have got you)!" इन में से एक ने भीतर आते हुये ताना कस दिया ।

"गुडमार्निंग ।" उत्तर देकर कुर्सी से उठ मैंने कहा, "कुर्सी कोठरी में एक ही है । आप लोगों को कहां बैठने के लिये कहूं ? मैं यह भी नहीं जानता कि किन सज्जनों से बात करने का सौभाग्य मुझे मिला है ।"

उन में नाटे कद का व्यक्ति ही बात कर रहा था—"आप मिस्टर यशपाल हैं । हमें नहीं पहचानते ?" उस ने विस्मय प्रकट किया, "हमारी खोपड़ी उड़ा देने के लिये पिस्तौल लिये आप ने बीसियों चक्कर हमारे बंगलों के लगाये होंगे ।"

साहब की इस अहम्मन्यता पर उस समय भी मुस्कराहट आ गयी । उसे सान्त्वना दी—"हो सकता है ऐसी आशंका के कारण आप लोगों को कई रातें नींद न आ सकी हों या इस विचार से आप ने गर्व भी अनुभव किया हो पर मेरा यह दुर्भाग्य है कि मैं आप लोगों को पहचानता भी नहीं ।"

साहब का मिजाज जमीन पर आया । बोले—"मेरा नाम हालिन्स है । मैं यू० पी०

पुलिस का इंस्पेक्टर जनरल हूं। ये मिस्टर शा हैं, यू० पी० की खुफिया पुलिस के डिप्टी इंस्पेक्टर जनरल।" साहब ने अपने साथी की ओर संकेत किया।

हालिन्स से मुलाकात का जिक्र मैंने 'सिंहावलोकन' के पहले भाग में भी किया है। उस समय मैंने उस का नाम हालैंड्स लिखा था। अभी अक्टूबर १९५४ में इंगलैंड से प्रकाशित पत्रिका 'मैन ओनली' में S. T. Hollins, C. I. E. के संस्मरण भारत में फैली अराजकता और अपराधों के विषय में पढ़े हैं। अपनी गिरफ्तारी के दिन उस के उच्चारण से मैंने हालैंड्स समझा था। हालिन्स के इन संस्मरणों में आजाद की शहादत और मेरी गिरफ्तारी का भी वर्णन है। बाइस वर्ष में हालिन्स मेरा नाम भूल गया है। स्मृति विभ्रम से उस ने और भी कुछ अनर्गल बातें लिखी हैं। उदाहरणतः उस ने लिखा है कि वायसराय की ट्रेन के नीचे बम विस्फोट ३१ दिसम्बर को हुआ था, सावित्री की मृत्यु एक बरस बाद जेल में हो गयी थी। यह बातें गलत हैं। कह ही चुका हूं कि सावित्री जी मुझ से १९३८ जुलाई में, भुवाली में मिली थीं।

हालिन्स से मैंने कहा—"आप के दर्शनों के लिये आभारी हूं। आप की क्या सेवा कर सकता हूं ?"

हालिन्स ने तुरन्त प्रश्न किया—"आप बहुत सुसंस्कृत आदमी हैं। आपने यह मार्ग क्यों अपनाया ?"

"दूसरा तो कोई मार्ग ही नहीं हैं। किसी दूसरे तरीके से आप सुनते ही नहीं," उत्तर दिया। यह स्पष्ट ही था कि वह हमारे सशस्त्र क्रान्ति के प्रयत्नों की ओर संकेत कर रहा था। और बात हो भी क्या सकती थी ?

हालिन्स ने आंखें झपक कर पूछा—"क्या मतलब है आप का ?"

"मतलब साफ ही है।" मैंने कहा, "सभी जानते हैं कि इस देश के ९९ प्रतिशत लोग भूखे-नंगे, बिना किसी आशा के पशुओं जैसा जीवन बिता रहे हैं। विदेशी गुलामी ने उन्हें परवश और असहाय बना रखा है। इस विदेशी गुलामी से मुक्ति के लिये यत्न करना स्वाभाविक है।"

हालिन्स ने स्वीकार किया कि इस देश के सर्वसाधारण की अवस्था शोचनीय थी और हमें स्वाधीनता प्राप्ति के लिये यत्न करने का भी प्राकृतिक अधिकार था परन्तु साथ ही उन्होंने यह भी सीख दी कि स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये गांधी जी के मार्ग पर चलना ही अधिक उचित था।

हालिन्स को तो उस समय यही उत्तर दिया कि ब्रिटिश सरकार यदि गांधी जी के मार्ग को उचित और न्यायपूर्ण समझती है तो कांग्रेसी आन्दोलनों पर लाठी चार्ज और गोली की बौछार क्यों की जाती है ? कांग्रेस को गैरकानूनी क्यों करार दे दिया

गया है ?* एक अंग्रेज शासक को तो मैं यही उत्तर दे सकता था परन्तु एक क्रान्तिकारी के दृष्टिकोण से, अपने शत्रु द्वारा गांधीवादी आन्दोलन को उचित मार्ग बताना मेरे लिये इस बात का काफी प्रमाण था कि देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये यह आन्दोलन व्यर्थ है। हमारे स्वतन्त्रता के आदर्शों और उनकी प्राप्ति के लिये संघर्ष में गांधीवादी सिद्धान्त हमारे विरुद्ध और अंग्रेज साम्राज्यशाही के सहायक हैं। गांधी जी द्वारा गढ़वाली सिपाहियों के अहिंसात्मक विद्रोह की भी निन्दा मेरे विचार में अपनी धारणा के लिये प्रबल प्रमाण था।

संस्मरण की घटनाओं के प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि गांधी जी को अंग्रेज साम्राज्यशाही का समर्थक कहने से मेरा अभिप्राय क्या है ? डी० जी० तेन्दूलकर ने 'टाइम्स आफ इण्डिया' अक्तूबर १९५४ के प्रथम सप्ताह के अंक में एक पत्र द्वारा इस बात पर बहुत आपत्ति की थी कि सोवियत विश्वकोष में दिये गये गांधी जी के परिचय में उन्हें ब्रिटिश साम्राज्यशाही का सहायक और भारतीय जनसाधारण के स्वतंत्रता प्राप्ति के आन्दोलन का विरोधी कहा गया है। कम से कम हालिन्स जैसे जिम्मेवार अफसर, जिनका कर्तव्य भारतीय जनता के स्वतन्त्रता के आन्दोलन को कुचलना था, उस समय गांधीवादी स्वातन्त्र्य आन्दोलन से लड़ते हुये भी अन्य ब्रिटिश सरकार विरोधी संघर्षों की तुलना में गांधी जी और उनके आन्दोलन को अपना सहायक ही समझते थे।

आज भारत के ब्रिटिश शासन से मुक्त हो जाने पर गांधी जी को अंग्रेज साम्राज्यशाही का सहायक कहने का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिये ब्रिटिश साम्राज्यशाही द्वारा कायम व्यवस्था और ब्रिटिश के शासन को पृथक-पृथक करके देखना होगा। गांधी जी अंग्रेजों को भारत से चले जाने के लिये कह कर भी उनकी साम्राज्यशाही व्यवस्था, जिसका आधार सामन्तवादी और पूंजीवादी व्यवस्था थी, को आंच नहीं आने देना चाहते थे। उस व्यवस्था को बगावत से नष्ट कर देश के शासन की बागडोर सर्वसाधारण जनता के हाथ चले जाने या समाजवादी भावना से पूंजीवादी व्यवस्था की रक्षा के लिये जहां तक आवश्यक था, वे अंग्रेजी शासन की सहायता करते रहे। ब्रिटिश शासन समाप्त करने के यत्न में ब्रिटिश शासन द्वारा रक्षित सामन्तवादी और पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त कर देने की अपेक्षा वे ब्रिटिश साम्राज्यशाही को ही बनाये रखने के लिये तैयार थे। गांधी जी ने 'हरिजन' अप्रैल १९४१ के अंक में यह बात स्वयं

---

*१९३१ में अंग्रेज सरकार ने कांग्रेस द्वारा लगानबन्दी आन्दोलन आरम्भ करने पर कांग्रेस को गैरकानूनी संस्था करार दे दिया था।

स्वीकार की थी—"I hope I am not expected knowingly to undertake a fight that must end in anarchy and red ruin." स्पष्ट है, गांधी जी अराजकता और लाल विध्वंस आने देने की अपेक्षा अंग्रेजी शासन को ही कल्याणकारी समझते थे ।

गांधी जी किसी भी प्रकार भारत में ब्रिटिश सत्ता के सहायक थे, यह बात कांग्रेसजनों को कड़वी जरूर लगती है क्योंकि कांग्रेस ने ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर अहिंसात्मक क्रान्ति द्वारा स्वराज्य पा लेने का मिथ्या गर्व खड़ा कर लिया है । बरमा, लंका, भारत में अंग्रेजी शासन का अन्त और पाकिस्तान का जन्म एक ही घटनाक्रम और परिस्थितियों के परिणाम हैं । यदि दूसरे विश्वयुद्ध के परिणाम में उत्पन्न हो गयी अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति के कारण, १९४७ में भारत का शासन अंग्रेज पूंजीपति वर्ग के हाथ से भारतीय पूंजीपति वर्ग के हाथ में आ जाने को अहिंसात्मक क्रान्ति की विजय कहा जाये तो पाकिस्तान का जन्म भी एक अहिंसात्मक क्रान्ति की सफलता ही मानना पड़ेगा परन्तु पाकिस्तान बनाया जाने के लिये तो कभी कोई अहिंसात्मक आन्दोलन या सत्याग्रह नहीं किया गया ? जिन्ना साहब ने उसके लिये कभी उपवास नहीं किया, न कष्ट सहकर हृदय परिवर्तन का ही आन्दोलन चलाया था । ब्रिटिश द्वारा कांग्रेस के हाथ में भारत का शासन सौंप दिया जाना गांधीवादी अहिंसात्मक क्रान्ति की विजय का परिणाम नहीं है । यह दूसरे विश्वयुद्ध द्वारा उत्पन्न अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों में ब्रिटेन के लिये आत्मरक्षा का एकमात्र उपाय और कम्युनिज्म के प्रसार का भय था । तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री मि० एटली ने अपने ५ सितम्बर, १९५० के भाषण में स्पष्ट स्वीकार किया था—"...कम्युनिज्म अपना प्रभाव अनेक गुप्त तरीकों से संसार भर में फैला रहा है । एशिया और अफ्रीका में इस प्रभाव को रोकने के लिये हमने भारत, पाकिस्तान और लंका को स्वतन्त्रता देकर उन्हें कम्युनिज्म के विरुद्ध कामनवेल्थ के मोर्चे में अपना साझीदार और सहायक बना लिया है ।"* इसके अतिरिक्त अंग्रेज यदि भारत को अपने वश में रख सकना असम्भव समझने लगे थे तो वह कांग्रेस द्वारा गैरकानूनी नमक बना लेने के कारण नहीं था बल्कि दूसरे महायुद्ध के समय जापान की सहायता से इण्डियन नेशनल आर्मी के और १९४२ के भारतीय नौ-सेना के विद्रोहों के उदाहरणों से भारतीय जनता में गहरे विद्रोह की भावना को समझ लेना था । अस्तु :—

बातचीत के बाद हालिन्स ने पूछा—"आपको यहां कोई कष्ट तो नहीं ?"

---

*(National Herald, Sept., 6, 1950)

"कष्ट देने के लिये ही मुझे यहां लाया गया है और मैं उसके लिये तैयार हूं।" उत्तर दिया।

"क्या मतलब ?"

"मैं आप से लड़ता रहा हूं। अब आप के बस में हूं। मुझे जैसे चाहे रखिये वर्ना यह क्या आदमी के रहने की जगह है ?" हवालात की कोठरी की ओर संकेत किया।

"यह सब ठीक हो जायगा।...आपको ऐसे नहीं रखा जा सकता। हम ब्रिटिश लोग प्रतिहिंसा की भावना नहीं रखते। यदि आपको जर्मनों या रूसियों से वास्ता पड़ता तो देखते। हम लोग मानवता का खयाल रखते हैं। स्वयं ही देख सकोगे, जितनी भी सुविधाएं उचित होंगी, कानूनी या दूसरी, देने से हमें संतोष होगा।"

हालिन्स के जाने के कुछ देर बाद फिर हवालात का दरवाजा खुला। बाहर लगभग एक दर्जन सशस्त्र सिपाही खड़े थे। थानेदार ने कहा—"आप को दूसरी जगह जाना होगा।"

मुझे पुलिस की बस में बैठाया गया। इलाहाबाद की सड़कें और स्थान परिचित थे। वहां बीसियों बार स्वतन्त्र घूमा-फिरा था। अब बन्दी बना उन्हीं सड़कों पर से चला जा रहा था। मुझे कटरे के पास कचहरी के पीछे गोरा हवालात में पहुंचाया गया। कैनिंग रोड थाने की हवालात की अपेक्षा खूब बड़ा, रौशन, गुसलखाने के साथ कमरा था। दरवाजे-खिड़कियां यहां भी लोहे की मोटी-मोटी सीखों से जड़ी हुईं। चारों तरफ ऊंची पक्की ईंट की चारदिवारी से घिरा हुआ छोटा-सा आंगन। आगे-पीछे जंगलों से कुछ दूरी पर खड़े सशस्त्र सिपाही दीखते थे। यहां इंचार्ज एक अंग्रेज या एंग्लो-इण्डियन था। उसने मुझे बन्द करने से पहले मेरी तलाशी ली। सावित्री जी के मकान से आते समय केवल दो चीजें साथ लेता आया था—एक कम्बल और एक अपना कलम। यह कलम सुमित्रा दीदी की भेंट थी। उस समय बाजार में मिल सकने वाला सबसे अच्छा कलम था। कुछ कलम का मोह, कुछ भेंट का खयाल; इसे ले आया था। अफसर ने वह कलम ले लिया और आश्वासन दिया—"जब यहां से जाओगे, लौटा दिया जायगा। हवालात में कागज-कलम रखने का नियम नहीं है।"

योरुपियन हवालात में बन्द किये जाते समय एक बट्टी नहाने का साबुन, एक तौलिया, दांत मांजने का ब्रुश और मंजन भी दिया गया गया। कमरे में लोहे का पलंग, गद्दा और चादर-कम्बल भी थे। साढ़े-नौ बजे नाश्ता आ गया—मक्खन-रोटी, अंडे और चाय। यह जगह भी अपराधियों को बन्द करने के लिये ही थी परन्तु शासक जाति के अपराधियों के लिये। मुझे यहां पहुंचा जाने का कारण अधिक सुरक्षित जगह में रखने का विचार था या मुखबिरों से मिली मेरे जीवन के आधुनिक अभ्यासों की खबर रही

हो। हवालात के अफसर ने दो-तीन सस्ते ढंग के चलतू उपन्यास भी दे दिये कि पढ़ कर समय काट सकूं परन्तु इतनी जल्दी पढ़ने क्या बैठ जाता।

अनुमान था कि यहां काफी समय रहना पड़ेगा, यानि कुछ दिन के लिये ठिकाने पर पहुंच गया हूं। गिरफ्तारी के समय गोली चलाये तीन-चार घण्टे बीत चुके थे। कुछ खा-पी लिया था। जगह भी बुरी नहीं थी। उस स्थिति में इससे और अच्छी जगह की आशा की भी न जानी चाहिये थी। अब सोचने का समय था कि आगे क्या करना होगा? सोचने लायक कोई बात नहीं सूझी। जब तक सामने समस्या का आभास न हो उसके बारे में सोचा ही क्या जा सकता है। यह खयाल था कि लाहौर और दिल्ली के मुकदमों में जरूर पेश किया जाऊंगा और किसी न किसी मामले में फांसी पर लटका दिया जाऊंगा; कुछ दिनों या महीने दो महीने की बात है। कमरे में टहलने लगा।

उस कमरे में मुझ से पहले दिन बिता गये लोग जगह-जगह दीवार का चूना खुरच कर अपने नाम लिख गये थे। अपना नाम कायम कर जाने का भी क्या मोह होता है! बच्चे जिस नयी जगह जाते हैं, अपना नाम लिख देते हैं। कुछ लोगों में यह बचपन बड़ी उम्र तक बना रहता है। साधन होने पर लोग यह बचकाना शौक पूरा करने के लिये किले और बड़े-बड़े स्मारक बना जाते हैं। कुछ बहुत उदासी भरी कविताओं की अंग्रेजी में पंक्तियां भी जगह-जगह लिखी हुई थीं। उनका प्रभाव हो या स्वयं मेरी मानसिक स्थिति का, मैं भी गुनगुनाने लगा :—"कोई दम का मेहमां हूं ऐ अहले महफिल, चिरागे सहर हूं बुझा चाहता हूं।" और इसके साथ ही—"गालिब खस्ता के बगैर कौन काम बन्द हैं, रोइये जारोजार क्यों कीजिये हाय-हाय क्यों।" जब भी मन में उद्वेग या भावना उमड़ आती है, गाना या गुनगुनाना आने लगता है।

खुद ही खयाल आया, कौन रो रहा है और कौन हाय-हाय कर रहा है मेरे लिये! अपने प्रति स्वयं ही करुणा अनुभव करने से क्या फायदा? अपनी मां, भाई और प्रकाशवती का खयाल आया। वह खयाल भुला देने की चेष्टा की। क्या लाभ था सोचने से···जानता था उन लोगों को बहुत दुख होगा परन्तु उन्हें दुख से बचाने का उपाय तो मैं कुछ कर नहीं सकता था। अपने विचार में उन्हें दुख न देने का उपाय मैं यही कर सकता था कि अपने व्यवहार में किसी प्रकार की निर्बलता न आने दूं। वे मेरे लिये गर्व कर सकें।

दोपहर के समय दरवाजा खुला और एक स्थूल शरीर, गरम कोट-पतलून पहने व्यक्ति भीतर आये। उनके पीछे एक सिपाही खूब बड़ा थाल, दूसरे थाल और तौलिये से ढंका उठाये था। कुर्सी पर बैठ कर उन्होंने अपना परिचय दिया—"मैं जे० बैनर्जी,

डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस हूं।"

याद आ गया। खुफिया पुलिस के डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट बैनर्जी को बनारस में एक क्रान्तिकारी ने उनकी ब्रिटिश सेवा का फल देने के लिये गोली मारी थी। यह वही सज्जन थे। बैनर्जी ने बताया मेरी गिरफ्तारी की बात सुन कर उन्हें बहुत दुख हुआ और उन्होंने सोचा कि जाकर देख तो आयें कि मेरी कैसी हालत है। उन्हें यह भी खयाल आया कि मैं भले घर का लड़का हूं। मेरे खाने-पीने का जाने क्या प्रबंध किया गया होगा इसलिये कुछ खाना भी साथ लेते आये थे। उन्होंने आग्रह किया कि पहले मैं खा लूं तब बात करेंगे।

मैंने विश्वास प्रकट किया—"यहां सब प्रबन्ध सन्तोषजनक जान पड़ रहा है। खाने का प्रबंध भी ठीक ही होगा।" परन्तु वे नहीं माने। थाल खोल कर मेरे सामने रख दिया और बहुत ही आत्मीयता से, जैसे बहुत दिन बाद परदेस से लौटे परिवार के लड़के को भोजन कराया जाता है, एक-एक चीज की ओर संकेत कर खाने का आग्रह करने लगे। खाना बहुत अच्छा बंगाली ढंग का था। अच्छे बंगाली खाने की तरह उसमें मिठाई भी थी। याद है, खजूर का गुड़ पहली बार उसी दिन खाया था।

मैं खा चुका तो बातचीत शुरू हुई। बैंनर्जी के आने का उद्देश्य था कि संकट के समय जितनी सम्भव हो मेरी सहायता की जाये। उन्हों ने याद दिलाया कि मेरी गिरफ्तारी की खबर पाकर मेरे सम्बन्धी दुख से कलपेंगे। खास कर 'यंग लेडी' (प्रकाशवती) पर क्या बीतेगी? कुछ ऐसा उपाय किया जाना चाहिये कि कानूनी झंझट से छुट्टी पा कर मैं अपना शेष जीवन पारिवारिक सुख शांति से बिता सकूं। मेरे जैसे योग्य नौजवान का जीवन व्यर्थ नष्ट नहीं होना चाहिये। वे यह भी जानते ही थे कि मैं चोर-डाकू नहीं हूं। अपने विचार में मैंने सब कुछ निस्वार्थ भाव से ऊंचे लक्ष्य के लिये किया है। सब से बड़ी बात यह कि कुछ और नौजवान भी देशभक्ति की भावना से मेरी तरह अपने जीवनों को जोखिम में डाल रहे हैं, उन्हें भी बचाया जा सके। उन्होंने पंजाबी होने के नाते मेरे बहादुर और स्पष्टवादी होने की भी आशा प्रकट की—जब तक लड़े, खूब लड़े। जब लड़ाई खत्म तो साफ-साफ बात से झगड़ा खत्म! यह भी बताया कि पिल्डिच साहब भी मेरी निर्भीकता और शिष्टाचार की प्रशंसा कर रहे थे। उन्हें मुझ से व्यक्तिगत बैर नहीं है।

बैनर्जी ने बताया, वे नित्य गीता का पाठ करते थे। गीता के उपदेशानुसार आचरण का प्रयत्न करते थे यानि अपने कर्म को धर्म समझ कर उसे पूरा करते थे और फल की चिन्ता भगवान के लिये छोड़ देते थे। उन्होंने मुझे भी ऐसा ही करने के लिये कहा। गीता के श्लोकों के उद्धरण भी दिये। बताया कि देश के नौजवानों को अपनी जिन्दगियां

बरबाद करने से बचाना वे अपना वैयक्तिक और राष्ट्रीय कर्त्तव्य समझते थे । बनारस में स्वयं उनके ही भान्जे मणीन्द्र ने उन पर गोली चला दी थी । लोग उसे पकड़ कर पीटने लगे तो उन्होंने उसे छुड़ा दिया था—"अबोध लड़के को न मारो । वह कुछ नहीं समझता ।" मणीन्द्र की गोली उनके पेड़ू को छीलती हुई निकल गयी थी । वे बाद में भी गीता के उपदेशानुसार अपना कर्त्तव्य निबाहते रहे । हां, अंग्रेजी सरकार ने उनके शुभ कर्मों का फल देने के लिये रायबहादुर की पदवी से भूषित कर दिया था ।

मैंने बैनर्जी की कृपा के लिये धन्यवाद देकर विश्वास दिलाया कि अपनी समझ से गीता के अनुसार ही आचरण करना चाहता हूं । जो कर्त्तव्य समझा, करने की कोशिश की, अब उस का फल चाहे जो हो । भगवान ने सगे-सम्बन्धियों का मोह छोड़ कर कर्तव्य पालन का उपदेश दिया है । यह सम्बन्ध तो नश्वर शरीर के हैं, उसके साथ समाप्त भी हो जायेंगे । किसी को दुख देने का क्या प्रश्न है; सब का अपना-अपना कर्मफल है ।

बैनर्जी तीन दिन तक दोपहर में लगातार आते रहे । साथ बढ़िया भोजन भी लाते थे । संध्या भोजन भिजवा देते थे दोपहर में गीता को लेकर चर्चा होती रहती और वे बराबर खेद प्रकट करते कि इतनी समझ-बूझ और प्रतिभा का नौजवान ऐसे बरबाद हो जाये । वे ऐसा न होने देने की प्रतिज्ञा किये बैठे थे, चाहे मैं नाराज ही क्यों न हो जाऊं । बातचीत में कुछ समय बीत जाता था ।

चौथे या पांचवें दिन दोपहर के समय दरवाजा खुला और खबर मिली कि दूसरी जगह चलना होगा । खयाल आया, इन लोगों ने इतने दिन भलमनसाहत से समझा कर देख लिया । अब यह दूसरा उपाय करेंगे । बहुत उपाय सुन रखे थे—उल्टा टांग देना, बेहिसाब पिटाई, नाखूनों में पिन गाड़ देना और जाने क्या-क्या ! मन ही मन सोचा—तैयार हो जाओ !

पुलिस की बस में प्रायः दर्जन भर सशस्त्र सिपाहियों से सुरक्षित मुझे मलाका जेल (इलाहाबाद जिला जेल) में पहुंचा दिया गया । अब तक किसी भी समय मुझे हथकड़ी नहीं लगायी गयी थी । जेल के भीतर पहुंचते ही एक लुहार मेरे पांवों में बेड़ियां पहनाने के लिये आ गया । मैंने जेलर के सामने आपत्ति की—"मैं राजनैतिक कैदी हूं, बेड़ियां नहीं पहनूंगा ।"

"यह सब हमें कुछ मालूम नहीं है । जिस दफा में चालान आया है, उस में बेड़ियां पहनाई जायेंगी ।" उत्तर मिला ।

"आप बेड़ियां पहनायेंगे तो मैं विरोध में न भोजन करूंगा और न कोई दूसरा आवश्यक काम ।"

"ये तुम जानो !"

बेड़ियां पहना दी गयीं और जेल के पांच दरवाजे लांघ कर, दूर एक हाते के भीतर एक बारक की कोठरी में पहुंचा कर, कोठरी के किवाड़ों पर ताला लगा दिया गया। बारक के बड़े फाटक पर भी ताला था। कोठरी का दरवाजा जंगलेदार नहीं, लोहे की चादर का था। दरवाजे में एक सुराख था जिस पर बाहर की ओर ढक्कन था। पहरेदार वार्डर जब चाहता भीतर झांक सकता था। इस बारक में बीच में गलियारे की तरह जगह खाली थी और दोनों ओर ऐसी ही कोठरियां बनी हुई थीं। एक कोठरी में एक पागल बन्द था। वह कभी रोता, कभी गाता रहता। दूसरी कोठरी में तनहाई की सजा पाये कैदी बन्द थे। कोठरी में खाट या पलंग नहीं था। मूंज का बना दो फुट चौड़ा और छः फुट लम्बा एक मोटा टाट, दो काले कम्बल बहुत ही कड़े और लोहे का एक तसला पानी पीने के लिये। एक कोने में तारकोल से पुती जगह में मिट्टी का एक बड़ा प्याला शौच के लिये। दिन में भी अंधेरा सा ही रहता था। रात में कोई प्रकाश नहीं। दिल में सोचा—"इब्तदाए इश्क है रोता है क्या, आगे-आगे देखना होता है क्या !"

सुबह आधा पाव अधभुना-अधघुना चना, दोपहर और संध्या पांच-छः बड़ी-बड़ी रोटियां और लोहे के तसले में पानी जैसी दाल डाल दी जाती थी। मैं कुछ न खा-पीकर भविष्य की प्रतीक्षा में पड़ा-पड़ा ऊंघा-सोया करता था। जाने इतनी नींद कहां से आ गयी थी।

चार-पांच ही दिन ऐसे बीते होंगे। सुबह जेल के अंग्रेज सुपरिन्टेन्डेन्ट (जो इलाहाबाद का सिविल सर्जन भी था) के दर्शन हुये। उस के कोठरी में आने पर भी मैं लेटा ही रहा।

सिविल सर्जन ने पूछा—"तुम अशिष्टता का व्यवहार क्यों कर रहे हो ?"

मैंने उत्तर दिया—"मेरे साथ भी तो अशिष्टता का व्यवहार किया जा रहा है।"

"क्या ? कैसे ?"

"यह शिष्ट लोगों के रहने का ढंग और जगह है ?" मैंने कोठरी की ओर संकेत करके पूछा।

साहब ने मेरी बात का उत्तर न देकर धमकी दी—"तुम भूख हड़ताल कर रहे हो। यह जेल कानून से अपराध है।"

"मैं भूख हड़ताल नहीं कर रहा हूं। मेरे साथ ठीक ढंग से व्यवहार नहीं किया जा रहा है और न खाने लायक खाना दिया जा रहा है इसलिये मैं नहीं खा सकता।"

"दूध-चावल खाओगे ?" उस ने पूछा।

"दूध-चावल का सवाल नहीं है । ठीक व्यवहार का प्रश्न है ।"

"वह कैसा होता है ?"

"जैसा राजनैतिक कैदियों के साथ होना चाहिये या जैसे कोई सभ्य देश युद्ध बन्दियों के साथ करता है ।"

"तुम तो वायोलेंस के अपराध के अभियुक्त हो ।" साहब ने गांधीवादी भाषा का प्रयोग किया ।

मैंने उत्तर दिया—"जो भी हो उद्देश्य राजनैतिक ही है ।"

"यह हम नहीं जानते । तुम ऊंची श्रेणी का बर्ताव चाहते हो तो दरखास्त दो । तुम्हारी आर्थिक स्थिति की तहकीकात की जायगी । फिर मजिस्ट्रेट का जैसा फैसला होगा । अभी चाहो तो मैं लिहाज में दूध-चावल दे सकता हूं ।"

"धन्यवाद । लिहाज नहीं चाहिये । ठीक व्यवहार चाहिये ।"

कोठरी का फाटक बन्द हो गया ।

अगले या दूसरे दिन दोपहर बाद जेल के दफ्तर में ले जाकर मुझे मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया गया । मैं समझ गया कि मुझे मैजिस्ट्रेट के सामने पेश करने की आवश्यकता इसलिये हुई होगी कि पुलिस मुझे तहकीकात के लिये अभी और हवालात में रखे रहने की इजाजत चाहती है । सम्भव है, बाहर इस बात पर शोर मच रहा हो कि मुझे अदालत में पेश क्यों नहीं किया जा रहा । मजिस्ट्रेट ने मुझ से पूछा—"कुछ कहना चाहते हो ?"

उत्तर दिया—"मेरे साथ मनुष्यों जैसा व्यवहार नहीं किया जा रहा है । जब तक मेरे पांव से बेड़ियां नहीं निकाली जायेंगी मैं न भोजन करूंगा, न कोई बात करूंगा । व्यवहार राजनैतिक कैदियों जैसा होना चाहिये ।"

मजिस्ट्रेट ने कहा—"ऊंची श्रेणी का व्यवहार चाहते हो तो दरखास्त दो ।"

मैंने आग्रह किया—"आप से कह रहा हूं, इसे दरखास्त समझ लीजिये ।"

इन आठ-नौ दिनों में बाहर या जेल के किसी आदमी से बात करने का अवसर नहीं मिला । यह भी मालूम नहीं था कि मेरी गिरफ्तारी की बाबत लोगों को पता लगा या नहीं और किसी को मेरी चिन्ता है या नहीं । मेरा निश्चय था कि मैं स्वयं जो कुछ कर सकता हूं, मुझे उसकी चिन्ता करनी चाहिये । मुकदमे में मुझे सफाई देनी क्या है—कुछ नहीं । यही बताना है कि मैंने जो कुछ किया, वह क्यों किया । जैसे भगतसिंह ने कहा था ।

यदि यों अज्ञान में रखे जाने को और सात-आठ दिन बेड़ियां पहने भूखा रहने को ही यातना देना कहा जाय तो यातना ही थी परन्तु मुझे यह कुछ बहुत बड़ा कष्ट

नहीं जान पड़ा क्योंकि मैं इससे बहुत बड़ी यातनाओं की प्रतीक्षा में था। कुछ आदमियों या साथियों से बाद में बात करने पर पता लगा है कि मन में यह खयाल कि हमारी बाबत किसी को कुछ पता ही नहीं, हम इस काल कोठरी में मर भी जायें तो किसी को खबर नहीं होगी, सबसे बड़ी यातना बन जाता है। जब अभियुक्त अपनी बात बाहर पहुंचाने की मांग करता है तो पुलिस को उसका एक मर्मस्थल मालूम हो जाता है। यह दिखाकर कि तुम्हारी बात बाहर नहीं जा सकती, तुम बड़े देशभक्त शहीद बन रहे थे लेकिन किसी को तुम्हारी चिन्ता नहीं, उसे परेशान किया जा सकता है। परेशान होते व्यक्ति की परेशानी को बढ़ाने के लिये उसकी पिटाई-विटाई भी की जा सकती है। मैं ऐसा अनुभूति शून्य बनकर बैठ गया था कि मुझे कोई परेशानी या शिकायत है ही नहीं।

उस रोज मजिस्ट्रेट से बात होने के अगले दिन बेड़ियां कट गयीं। उस काल कोठरी में लोहे का एक पलंग और बिस्तर भी आ गया और बी० क्लास के कांग्रेसी कैदियों के यहां से भोजन आने लगा। अगले ही दिन बैनर्जी फिर आ पहुंचे। उन्होंने बहुत विस्मय और खेद प्रकट किया—"तुम्हें यहां भेज कर इन लोगों ने बड़ी मूर्खता की है। मुझे मालूम ही नहीं हुआ। यह तुम्हारे लायक जगह नहीं है।" साथ कुछ फल लेते आये थे और भोजन का थाल भी। फिर गीता के उपदेश के अनुसार फल की चिन्ता न कर अपना कर्तव्य निश्चय करने का उपदेश शुरू हुआ। परिवार और प्रकाशवती का जिक्र हुआ और यह सम्भव बताया गया कि मुकदमे का यों ही सा उपचार हो जाये और मैं संकट के इस झगड़े से छूट जाऊं और विलायत चला जाऊं। यह सब हो सकता था यदि मैं दूसरे नौजवानों का जीवन नष्ट करने वाले आन्दोलन की रोकथाम में सहयोग दे सकता अर्थात मुखबिर बन जाता।

अब बैनर्जी से साफ-साफ बात करनी पड़ी। उनका ढंग इतना शिष्ट और मधुर था कि मैं अकारण ही उद्दंडता से बात नहीं कर सकता था। मैंने कहा—"बैनर्जी महाशय, गीता की बात छोड़िये। गीता का अर्थ किसी को समझ में नहीं आ सकता। गीता के उपदेश से युद्ध से कतराने वाला अर्जुन राज्य के लोभ में अपने सगे-सम्बन्धियों को मारने के लिये तैयार हो गया था। बहुत से लोग गीता पढ़कर वैरागी बन जाते हैं। गांधी जी को उसमें अहिंसा का उपदेश मिलता है। आप मुझे गीता के आधार पर अपनी जान बचाने के लिये अपने साथियों के साथ विश्वासघात करने का सुझाव दे रहे हैं। अपनी साधारण बुद्धि के अनुसार मेरा निश्चय है कि मैंने जो कुछ किया उचित किया। मुझे मालूम था कि इसका फल भोगना पड़ेगा। मैं उसके लिये तैयार हूं। आपकी सहृदयता के लिये आभारी हूं। भोजन मुझे जेल से मिलता है, आप भोजन

न भिजवाया कीजिये।"

बैनर्जी ने उपेक्षा के रूप में हाथ हिला कर कहा—"इन छोटी-छोटी बातों को छोड़ो। यह तो मेरे संतोष की बात है।"

भोजन के सम्बन्ध में बैनर्जी की कृपा से बचने की इच्छा का एक कारण था। मुझे इस जेल में आये आठ-दस दिन हो गये थे। अब तक मेरे साथ विशेष व्यवहार हो रहा था इसलिये कैदियों में उत्सुकता हो रही थी कि मैं हूं कौन ? एक दिन तो एक कैदी जमादार एक छोटा-सा पर्चा ही ले आया। इस पर्चे में लगानबन्दी के सत्याग्रही कैदियों ने मेरे सम्बन्ध में जिज्ञासा की थी और सहायता करने की इच्छा भी प्रकट की थी। उस समय मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। मुझे शंका थी, यह कैदी जमादार जेलर की ओर से यह भेद तो नहीं ले रहा कि मैं गैरकानूनी काम करता हूं या नहीं। दूसरे कैदियों को यह भला कैसे न पता चलता कि बैनर्जी पुलिस के ऊंचे अफसर हैं। उन के यहां से मेरे लिये खाना आने के कई अर्थ लगाये जा सकते थे।

बैनर्जी से कुछ कड़ी बात कह देनी पड़ी। कहा—"देखिये मैं जेल में हूं। खाना आप के यहां से आता है। यदि मुझे कुछ हो गया तो मुझे विष देने का कलंक आप पर आयेगा। ऐसा मैं नहीं चाहता।" बैनर्जी ने कान को हाथ लगाया, "ना भाई, ऐसा सोचते हो तो मैं खाना नहीं भिजवाऊंगा।"

तीसरे-चौथे दिन बैनर्जी ने तंग आकर कहा—"आखिर हम अदालती कार्रवाई कब तक रुकवा सकते हैं। मामला एक बार अदालत में चला गया तो फिर उसे रफा-दफा करने या उस का रूप बदल देने की गुंजाइश नहीं रहेगी। अब सोच लेना चाहिये तुम्हें।"

मैंने उत्तर दिया—"मैं तो स्वयं ही चाहता हूं कि मामला जल्दी अदालत में जाये। यहां आप ने मुझे अन्धे कुएं में डाल रखा है। आप की सद्भावना के लिये मैं कृतज्ञ हूं परन्तु मेरी स्थिति ऐसी है कि आप मुझ से मिलने न आयें तभी मेरे लिये अच्छा है।" बैनर्जी लम्बी सांस लेकर चले गये पर उन्होंने हार मान ली हो सो बात नहीं। उन्होंने मेरे हृदय परिवर्तन का एक और प्रयत्न किया पर कुछ दिन बाद।

एक-दो दिन बाद मुझे जेल के दफ्तर में बुलाया गया। श्यामकुमारी नेहरू को पहचाना। फरारी की अवस्था में भी उन की माता उमा नेहरू, पिता मोहनलाल नेहरू और उन से भी दो बार मिल चुका था। उन्होंने अपने साथ आये दो व्यक्तियों का परिचय कराया। एक स्वयं श्यामकुमारी के चाचा बिहारीलाल नेहरू थे और दूसरे उन के मित्र बैरिस्टर थे। इन लोगों ने मेरी वकालत करना स्वीकार किया था और इसी सम्बन्ध में मुझ से परामर्श करने आये थे। बात जेल के अफसरों की नजर में हुई

परन्तु अफसर बात सुन नहीं सकते थे। वे चौकसी रखते थे कि हम लोग कुछ ले-दे न लें। ब्रिटिश सरकार की जेल में मैंने स्वयं अपने मामले की सफाई के लिये वकीलों से गुप्त परामर्श करने के अधिकार का उपयोग किया है। हरेक अभियुक्त चाहे वह किसी भी अपराध का अभियुक्त रहा हो, चाहे जितना खतरनाक और अविश्वसनीय माना गया हो, इस अधिकार का प्रयोग कर सकता था परन्तु १९४९ में जब मुझे रेलवे हड़ताल की आशंका में व्यर्थ ही जेल में डाल दिया गया था, यह देख कर विस्मय और दुःख हुआ कि कांग्रेसी राज में कम्युनिस्ट अभियुक्तों को यह अधिकार देने से इन्कार किया जा रहा था। मेरी गिरफ्तारी का जनता द्वारा बहुत विरोध होने के कारण मुझे जेल से जल्दी ही छोड़ दिया गया था। उस समय लालबहादुर शास्त्री उत्तर प्रदेश के पुलिस-मन्त्री थे। मैंने उन का ध्यान इस अन्याय की ओर दिलाया। इस विषय में उन से मिलने गया तो शास्त्री जी बैठे चरखा कात रहे थे। उन्होंने मेरी शिकायत पर एतराज किया कि कम्युनिस्ट लोग ऐसे अधिकारों का नाजायज लाभ उठाते हैं।

शास्त्री जी की यह बात सही मानी जा सकती है परन्तु मैं व्यक्तिगत जानकारी के आधार पर कह सकता हूं कि कांग्रेस के सभी नेताओं ने, पं० जवाहरलाल नेहरू से लेकर स्वयं शास्त्री जी तक, सभी ने ब्रिटिश राज में ऐसे अधिकारों का मनचाहा लाभ उठाया था। परन्तु इस अधिकार का छीना जाना वे सहन नहीं कर सकते थे। ब्रिटिश सरकार भी जानती थी कि राजनैतिक कैदी इस अधिकार का दुरुपयोग करते थे परन्तु वे एक बात को नियम मान लेने पर उस का पालन उचित समझते थे। दुर्भाग्य से हमारी कांग्रेस सरकार में ऐसा साहस नहीं है। वे चरखा कात लेने को ही आचार और सत्य-अहिंसा की पराकाष्ठा मान कर संतोष कर सकते हैं।

श्यामकुमारी जी से मालूम हुआ कि बाहर कुछ लोग मुझे अदालती सहायता देने के लिये कमेटी बना कर चन्दा इकट्ठा कर रहे हैं। मैंने उन से कहा—"लाहौर और देहली षड़यन्त्रों के मुकदमों की बात दूसरी थी। वहां बहुत से अभियुक्त थे। यहां मैं अकेला हूं। आप लोग पैरवी कर रहे हैं तो और रुपये की जरूरत क्या है? मैं यह नहीं चाहता कि मेरी माता को आर्थिक सहायता देने के लिये चन्दा जमा किया जाये।" मुझे यह मालूम हो चुका था कि धर्मपाल के गिरफ्तार हो जाने से पहले ही मेरी माता ने लाहौर में महिला महाविद्यालय के बोर्डिंग हाउस में सुपरिन्टेन्डेन्ट की नौकरी कर ली थी।

श्यामकुमारी जी ने बताया कि सावित्री जी पर मुझे शरण देने के लिये मुकदमा चल रहा है। यह जानने के लिये कि मेरे साथ विश्वासघात किसने किया होगा, उन्होंने

मेरी गिरफ्तारी का ब्यौरेवार वर्णन पूछा। यह भी समाचार मिल गया कि प्रकाशवती तथा दूसरे साथी सुरक्षित थे। यह भी पता लगा कि इन्द्रपाल के पलट जाने के कारण दूसरे लाहौर षड़यंत्र का मुकदमा गिर गया था और मेरा छोटा भाई धर्मपाल छूट गया था। उन्होंने बताया कि अभी मुझ पर एक मुकदमा शस्त्र रखने के लिये और दो मुकदमे हत्या के प्रयत्न के लिये चलाये जायंगे।

मैं अकेला अभियुक्त था। षड़यन्त्र का मुकदमा चल नहीं सकता था। इन धाराओं में से किसी में भी सात वर्ष जेल से अधिक की सजा नहीं हो सकती थी। लाहौर और देहली के मामलों में मुझ पर षड़यन्त्र और वायसराय की ट्रेन के नीचे विस्फोट आदि के लिये मुकदमे चलाने होंगे तो मुझे लाहौर या दिल्ली ले जाया जायगा।

बिहारीलाल नेहरू ने बताया—"दफा ३०७ का एक मुकदमा कानपुर की घटना के सम्बन्ध में है। उस मुकदमे के लिये पहले शिनाख्त परेड होगी अर्थात् एक मैजिस्ट्रेट के सामने कानपुर की घटना से सम्बन्ध रखने वाले सिपाही तुम्हें पहचानने के लिये आयेंगे। यदि वे लोग तुम्हें पहचान न सके तो वह मुकदमा चल ही नहीं सकेगा।"

मैं हंस दिया और बोला—"जिन लोगों से काफी बहस और झगड़ा करके जिन्हें सामने से गोली मारी है, वे मुझे पहचानेंगे कैसे नहीं। खास कर जब वे पहचानने के लिये ही आयेंगे। उनमें से एक सिपाही से देहली के चावड़ी बाजार में सामना हो गया था। उस समय भी वह मुझे तुरन्त पहचान गया था। यह बात दूसरी है कि भय से उसके हाथ-पांव फूल गये थे या उस समय वह निशस्त्र रहने के कारण डर कर भाग गया।" मैंने कहा, "पहचान न सकने की बात तो असम्भव (impossible) है।"

नेहरू जी ने समझाया—"यह मत कहो कि असम्भव (impossible) है, यह कह सकते हो कि It is highly improbable (न पहचान सकने की सम्भावना बहुत कम है) एक बात और है, तुम पर यह मुकदमा राजनैतिक षड़यन्त्र द्वारा हत्या के रूप में नहीं चलाया जा रहा है। तुम पर कोई राजनैतिक अपराध नहीं लगाया गया है इसलिये तुम्हारा स्वयं यह स्वीकारना कि 'हां मैंने यह किया है, मैंने वह किया है,' अप्रासंगिक होगा। तुम यदि अपने आपको निर्दोष नहीं बताना चाहते तो बयान देने से इनकार कर सकते हो। शेष हम देखेंगे कि क्या हो सकता है। तुम हमारे रास्ते में रुकावटें न डालना।" वे मेरे लिये इतना कर रहे थे तो उनकी यह सीख माननी ही पड़ी। इस में मुझे कोई असम्मानजनक बात नहीं लगी।

उन दिनों मुझे कपड़े तो श्यामकुमारी ने ला दिये थे परन्तु मैं हजामत नहीं बनवा रहा था। जेल के कैदी नाई से हजामत बनवाना मुझे पसन्द नहीं था। सेफ्टीरेजर रखने की आज्ञा अभी नहीं मिली थी। अगले दिन मुझे जेल के दफ्तर में बुलाया गया।

एक जवान से मैजिस्ट्रेट साहब मौजूद थे। यह थे मि० भगवान सहाय। मि० सहाय १९४७ के बाद उत्तर प्रदेश में चीफ सेक्रेटरी रह चुके हैं, भोपाल राज्य में चीफ कमिश्नर रहे और आजकल जम्मू-कश्मीर के गवर्नर हैं। मि० सहाय ने बताया कि मेरी शिनाख्त करने के लिये मुझे कुछ लोगों के बीच में खड़ा किया जायगा और कानपुर गोलीकांड से सम्बन्धित सिपाहियों को मुझे पहचानने का अवसर दिया जायगा।

मैंने शिनाख्त परेड में खड़े होने से इनकार कर दिया।

मि० सहाय बहुत तटस्थता से बोले—"सुनिये, अगर आप शिनाख्त परेड में खड़े होने से इनकार करोगे तो मैं लिख दूंगा कि अभियुक्त ने परेड में खड़े होने से इनकार कर दिया। मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। लेकिन न्याय के विचार से बता देना उचित है कि आपका इनकार करना आपके विरुद्ध प्रमाण माना जा सकता है। यदि आपको एतराज है कि शिनाख्त परेड ठीक ढंग से नहीं हो रही है तो अपना एतराज बताइये। यदि एतराज मुनासिब होगा तो उसे दूर करने की कोशिश की जायगी।"

इस युक्ति-युक्त बात का मैंने भी उचित उत्तर दिया। मेरा एतराज था कि जिन आदमियों के बीच में मुझे खड़ा किया जा रहा है, मेरे सिवा वे सब जेल के कैदियों की वर्दी पहने हैं। मेरे चेहरे पर पन्द्रह दिन की हजामत होने से मैं यों ही अलग सा दिखाई देता हूं। उचित ढंग से शिनाख्त परेड तब होगी जब मुझे मेरे जैसे आदमियों में खड़ा किया जाये। मुझे हजामत बनाने का भी मौका मिलना चाहिये। मेरी यह हजामत ही बता रही है कि मैं सदा ऐसे नहीं रहता आया हूं।

"हां, यह एतराज ठीक है।" मि० सहाय ने स्वीकार कर लिया।

उपाय यह सोचा गया कि मुझे 'सी' क्लास के मामूली कैदियों के बजाय 'बी' क्लास के राजनैतिक कैदियों के साथ खड़ा किया जाये। मुझे कपड़े बदल लेने और हजामत की भी सुविधा दी जाय।

उस समय इलाहाबाद जेल में मोहनलाल गौतम (कांग्रेसी शासन में उत्तर प्रदेश के स्वायत्त-शासन मंत्री), कानपुर से लोकसभा के सदस्य गोपीनाथसिंह आदि बन्दी थे। इन लोगों से पुराना परिचय था। यह लोग मेरी सहायता के लिये सभी कुछ करने के लिये तैयार थे। वे खद्दर के उजले कुर्ते-पायजामे और गांधी टोपी पहने थे। एक जोड़ा मेरे लिये भी मंगवा दिया। एक नाई आ गया। मुझे याद था कि मैं कानपुर की घटना के दिनों में छोटी-छोटी मूंछें रखता था। गौतम जी जेल में पूरी मूंछें रखे थे। उन से अनुरोध किया कि अपनी मूंछें छोटी तरशवा लें। अपनी मूंछें मैंने सफाचट कर दीं। शिनाख्त परेड में खड़ा होने के लिये 'बी' क्लास के एक और पंजाबी अभियुक्त को बुला लिया गया था। यह भला आदमी मुसलमान था और

जाली सिक्का बनाने के मामले में गिरफ्तार था। मेरे पंजाबी और भगतसिंह का साथी क्रान्तिकारी होने के कारण वह गले लगकर मिला और बोला—"तुम्हें बचाने के लिये जान तक देने के लिये तैयार हूं।" उसने बड़े यत्न से मूंछें पाल रखी थीं और उन्हें मरोड़ कर बिच्छू के डंकों की तरह चढ़ाये था। मैंने अनुरोध किया—"यह मूंछें छंटवा कर तितली की तरह छोटी छोटी करवा लो।" उसने तुरन्त यह कुर्बानी कर डाली।

मैंजिस्ट्रेट ने इशारा कर सकने वाले जेल के लोगों को दूर-दूर हट जाने के लिये कह दिया। मुझ से पूछा अब तो कोई एतराज नहीं है। एतराज के लिये गुंजाइश न रही। इससे मन की आशंका तो मिट नहीं गयी थी। हम लोग शिनाख्त परेड के लिये खड़े हो गये। पहचानने के लिये आये एक सिपाही को पुकारा गया। उसके सामने आते ही मैंने उसे पहचान लिया परन्तु पहचान लिये जाने की कोई घबराहट प्रकट न कर शांत खड़ा रहा। पहले से हुई मंत्रणा के अनुसार गौतम जी और पंजाबी भाई ने कुछ घबराहट प्रकट की। सिपाही ने हम सब लोगों को कई बार देखा। वह स्वयं बौखलाया हुआ जान पड़ रहा था। आखिर उसने गौतम जी का हाथ पकड़ लिया।

दूसरे सिपाही को बुलाया गया। वह भी पथराई सी आंखों से हम सबको कुछ देर देखता रहा और अन्त में उसने पंजाबी भाई का हाथ थाम कर कहा—"यह आदमी था।"

तीसरे सिपाही ने, जो मुझे दिल्ली चावड़ी बाजार में मिला था, सब को ध्यान से देखा। उसके शरीर में पुराने भय के कारण कंपकपी अब भी दिखाई पड़ रही थी। सब को खूब अच्छी तरह देख कर उसने कहा—"हुजूर, वह आदमी यहां नहीं है।"

इसके बाद बिहारीलाल नेहरू मुलाकात करने आये और शिनाख्त परेड का परिणाम सुन कर उन्होंने याद दिलायी—"तुम तो कहते थे, पहचाना न जाना असम्भव है!" अस्तु, कानपुर घटना के मुकदमे से तो छुट्टी मिली।

दूसरे-तीसरे दिन फिर दफ्तर में बुलाया गया और पुलिस की एक गारद के हवाले कर दिया गया। जेल के नियम के अनुसार कैदी को एक जेल से दूसरी जेल में बदली होने की खबर नहीं होने दी जाती। आशंका रहती है कि कैदी भाग जाने का इन्तजाम न कर ले पर पुराने कैदियों को ऐसी खबरें कई दिन पहले मिल ही जाती हैं। मैं उस समय तक नया था। मेरा अनुमान था कि मुझे देहली या लाहौर ले जाया जा रहा है। श्यामकुमारी प्रायः तीसरे-चौथे मिलने आती रहती थीं। उनसे मालूम हो चुका था कि दिल्ली और लाहौर के मुकदमों में सफाई के वकील मुझे मुकदमे में पेश करने की मांगें कर रहे थे। वहां मुझे पेश करने का मतलब उन मुकदमों का नये सिरे से जारी किया जाना होता। सरकार उन मुकदमों पर उस समय चौदह-चौदह

पन्द्रह-पन्द्रह लाख रुपये खर्च कर चुकी थी। दिल्ली या लाहौर भेजे जाने पर मैं पुराने साथियों से मिलने का अवसर तो पाता परन्तु मुझ पर कालेपानी या फांसी की सजा दिये जा सकने योग्य अभियोग भी चलता।

पुलिस ने मुझे स्टेशन न पहुंचा कर इलाहाबाद के नैनी सेन्ट्रल जेल में पहुंचा दिया। यहां मुझे गोरा बारक (योरुपियन बारक) की एक कोठरी में बन्द किया गया। बारक से बाहर निकलने की आज्ञा नहीं थी। मेरी कोठरी के पीछे हर समय एक जमादार खड़ा यह देखता रहता था कि मैं कोठरी में मौजूद हूं या नहीं, मुझ से कोई मिलने तो नहीं आता। वास्तव में तो योरुपियन बारक के सभी कैदी मेरे लिये पहरेदार थे क्योंकि वहां अधिकांश गोरे फौजी सिपाही थे, दो-तीन योरुपियन होने का दावा करने वाले एंग्लो-इंडियन, एक एंग्लो-इंडियन होने का दम भरने वाला देसी ईसाई। ये सब लोग मुझे अपना व्यक्तिगत शत्रु समझते थे। यहां भोजन कपड़े का दर्जा 'बी' क्लास के राजनैतिक कैदियों से भी कुछ ऊंचा था। मक्खन, डबल रोटी, दूध, चाय, अच्छा चावल, दाल, मांस, एक आध फल सभी कुछ मिलता था। सुपरिन्टेन्डेन्ट मेजर ओबेराय ने मुझे भद्रजन समझ कर या स्वास्थ्य के विचार से मेरे लिये कुछ अधिक दूध और अंडे की व्यवस्था कर दी थी।

श्यामकुमारी और दूसरे वकील नैनी में भी मिलने आते थे। श्यामकुमारी मेरी बहुत सहायता करती थीं। उनसे मैं अपनी निजी जरूरत की या राजनैतिक संदेश भेजने की बात भी बेतकल्लुफी से कर सकता था। जितनी या जिन पुस्तकों या दूसरी चीजों के लिये उनसे कहा उन्होंने लाकर दीं। यह भी कहा कि जब जैसी जरूरत हो संदेश भेज दूं। संदेश भेजने के सुझाव पर कठिनाई प्रकट की—"मलाका में तो कुछ परिचय हो चला था। यहां तो अभी किसी को जानता नहीं। इस 'बड़ी' जेल में तो कड़ाई भी 'बड़ी' है।"

जवाहरलालजी और नेहरू परिवार के लोग नैनी जेल में काफी रह चुके थे। श्यामकुमारी का वहां काफी आना-जाना रहा था। सान्त्वना दी—"घबराओ नहीं, जितनी बड़ी जेल उतनी अधिक सहूलियत। कुछ दिन में चाहोगे तो गुप्त चिट्ठी-पत्री भी भेज सकोगे।" उन्होंने एक विश्वासपात्र वार्डर का नाम बता दिया—"जवाहर भाई और रणजीत भाई जब जरूरत होती थी उसी के हाथ हमारे यहां चिट्ठी भेज देते थे। तुम परवाह न करना। उसे हम इनाम दे देंगे। जरूरत हो तो दस-पांच रुपये अपने पास रख लो।" जेल कानून से पैसा पास रखना बड़ा भारी जुर्म था। लेकिन सभी कैदी छिपाकर पैसा रखते ही थे। जेल अफसर भी यह जानते थे। कैदी पैसा पास न रखते तो अफसरों को रिशवत कैसे देते ?

मेरे मुकदमे की तारीख मार्च के अंत में पड़ी थी। उन्हीं दिनों मेरी माता लाहौर से मुझे मिलने आयीं। मेरी गिरफ्तारी या छोटे भाई की गिरफ्तारी पर एकांत में उन्होंने चाहे जितने आंसू बहाये हों परन्तु जेल में मिलने आने पर वे मुस्कराती ही रहीं और यही कहा—"...तुमने जो कुछ किया है, जानबूझ कर किया है। बस मेरे दूध को लाज न लगाना।"

इस बीच श्यामकुमारी की मार्फत प्रकाशवती के पत्र भी मिलने लगे थे। मैं इन पत्रों का जवाब भी उन्हीं की मार्फत भेज देता था। यह सब कुछ जेल अफसरों की मौजूदगी में ही होता था परन्तु उनकी जानकारी में नहीं। पहला पत्र मैंने एक साबुन को लपेटे रहने वाले कागज पर पेंसिल से लिखा था। उसे प्रकाशवती ने धरोहर की तरह सम्भाल कर रखा हुआ है। तेइस वर्ष बाद उस समय स्वयं लिखी बातें कुछ विचित्र सी लगती हैं।

मुझे मुकदमे के लिये जेल से अदालत तक ले जाने में भी शायद खतरा समझा गया। जेल के दफ्तर के एक कमरे को सेशन अदालत बना कर वहीं मेरा मुकदमा किया गया। जज थे तेजनारायण मुल्ला। मुल्ला परिवार बहुत ब्रिटिश भक्त था। तेजनारायण मुल्ला के पिता जगतनारायण मुल्ला काकोरी के मुकदमे में सरकारी वकील थे। ऊपर के प्रसंग में मैंने न्याय के नियमों के सम्बन्ध में ब्रिटिश शासन की सराहना की है। मेरा मुकदमा ब्रिटिश न्याय का दूसरा रूप था। मुझ पर दो धाराओं के अभियोग थे। एक धारा में बिना लाइसेंस पिस्तौल रखने का अभियोग और दूसरा मुकदमा धारा ३०७ में कत्ल का प्रयत्न करने के अभियोग का। वास्तव में तो अभियोग एक ही था परन्तु दो मुकदमे सजा अधिक देने के लिये बनाये गये थे।

मुकदमे की तैयारी के लिये मैं जेल लाइब्रेरी से इंडियन पेनल कोड लेकर पढ़ा करता था। मुझ पर मुकदमा दो ही धाराओं के अन्तर्गत था परन्तु फुर्सत होने के कारण पूरा पेनल कोड पढ़ डाला। कुछ तो कौतूहल से और कुछ यह देखने के लिये कि यह मुकदमा हो जाने के बाद मुझ पर अन्य किन-किन धाराओं में मुकदमे चलाये जा सकते हैं। इण्डियन पेनल कोड में एक धारा ऐसी भी है जिसके अनुसार भारत सम्राट के प्रतिनिधि की हत्या का प्रयत्न करने के अपराध में मृत्यु दण्ड दिया जा सकता है। मन ही मन सोचता था कि ब्रिटिश शासन का न्याय चिन्तन रहित चालू यन्त्र की तरह चल रहा है। सब झंझट छोड़कर मुझ पर इसी धारा के अन्तर्गत सजा देने से इनका प्रयोजन पूरा हो सकता था। अस्तु, बिना लाइसेंस शस्त्र रखने के अभियोग में जज के साथ ज्यूरी नियत की गयी थी और धारा ३०७ हत्या के प्रयत्न में असेसर नियत किये गये थे।

पहले बिना लाइसेंस पिस्तौल रखने के लिये मुकदमा शुरू हुआ। इस मुकदमे में ज्यूरी ने एक मत से फैसला दिया कि मुझ पर बिना लाइसेंस के पिस्तौल रखने का अपराध प्रमाणित नहीं हुआ। जज मुल्ला ने फैसला दिया कि वे ज्यूरी के निर्णय से सहमत नहीं हैं। वे ज्यूरी के विरोध में सजा नहीं दे सकते इसलिये मुकदमे को हाई-कोर्ट में भेज रहे हैं। गोली चला कर हत्या के प्रयत्न का मुकदमा हुआ असेसरों द्वारा। मेरे विरुद्ध अभियोग केवल पुलिस अधिकारियों, विशेष कर मि० पिल्डिच के बयान के आधार पर था। गवाह कोई भी नहीं था। गवाही की वस्तु भी कोई नहीं थी। मैंने कोई भी बयान देने से इनकार कर दिया था। यहां यह कहे बिना नहीं रह सकता कि मि० पिल्डिच ने अपने बयान में अक्षरश: सचाई का पालन किया था। बिहारीलाल जी बोलते तो बहुत धीमे-धीमे थे परन्तु उन्होंने जिरह इस पैंतरे से की कि पिल्डिच को कहना पड़ा—"जहां तक मेरा विश्वास है, मुझ पर गोली अदालत में उपस्थित मि० यशपाल ने ही चलायी थी। हां, सफाई के वकील की जिरह से यह सन्देह हो सकता है कि टीन की दीवार के पीछे गोली चलाने वाला व्यक्ति दूसरा रहा हो और वह व्यक्ति किसी तरह से भाग गया हो।" सन्देह का अवसर चतुर वकील ने पैदा कर ही दिया।

असेसरों ने भी एक मत होकर कहा कि सन्देह के लिये गुंजाइश है, अपराध प्रमाणित नहीं हुआ। जज मुल्ला ने असेसरों से सहमत न होकर सात वर्ष कठोर कारावास का दण्ड दे दिया। साधारण तर्क से जब तक यह प्रमाणित न हो जाता कि मेरे पास पिस्तौल था, पिस्तौल से गोली चला कर हत्या के प्रयत्न का मौका कैसे सम्भव था? पर अदालती कायदा और कानून साधारण बुद्धि से नहीं चलते।

जेल के दफ्तर में बनी इस अदालत में एक रोचक घटना भी हो गयी। देहरादून के प्रकरण में अपने जाली डाक्टर बनने की बाबत कह चुका हूं। उन दिनों एक बंग कुमारी अध्यापिका के पिता से भी परिचय हुआ था। इस अदालत में सर्वसाधारण को आने की आज्ञा नहीं थी परन्तु मुख्य समाचारपत्रों के प्रतिनिधियों को अनुमति दे दी गयी थी। इन प्रतिनिधियों में मुझे देखने की उत्सुकता स्वाभाविक ही थी। आंखें चार होते ही मैंने बंग कुमारी अध्यापिका के पिता को पहचान लिया परन्तु कोई संकेत पहचान लेने का नहीं किया। वे मुझे बहुत विस्मय से देख रहे थे। उन्हें अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हो रहा था। कभी चश्मा लगाकर देखते और कभी चश्मा उतार कर। उनके चेहरे पर एक रंग आता था और एक जाता था। आखिर तीसरे दिन अवसर पाकर उन्होंने प्रणाम कर ही दिया और बहुत द्रवित स्वर में योग्य सेवा कर सकने की इच्छा प्रकट की। "सब ठीक है।" मैंने संक्षिप्त उत्तर दिया। नहीं चाहता

था कि पुलिसवाले उन्हें मुझ से आन्तरिकता से बात करता देखें और उनके पीछे पड़ जायें।

हाईकोर्ट के फैसले की तारीख लगभग महीने भर बाद पड़ी थी इसलिये वकीलों का आना-जाना जारी रहा। फैसले के दिन श्यामकुमारी हाईकोर्ट से सीधे जेल आयीं और बधाई दी कि हाईकोर्ट ने बिना लाइसेंस शस्त्र रखने की धारा में मुझे अपराधी तो माना है परन्तु हानि कोई नहीं हुई। इस धारा में सात वर्ष जेल की सजा दी गयी है और जैसी आशा थी—क्योंकि दोनों कानून एक ही धारा से सम्बन्ध रखते थे—दोनों सजाएं एक साथ चलेंगी। सजा वास्तव में सात वर्ष की हुई है। सब कुछ कर गुजर के केवल सात वर्ष की सजा ! जान पड़ा यों ही छूट गया हूं। अध्ययन करने के लिये सात वर्ष का समय सरकार ने दे दिया है।

श्यामकुमारी दूसरे दिन संध्या फिर आयीं। उस दिन उनका मुंह लटका हुआ था। बताया कि कल अंग्रेज जज ने दोनों सजाएं साथ-साथ चलाने का फैसला तो सुना दिया था परन्तु फैसला टाइप न हो सकने के कारण उस पर हस्ताक्षर नहीं हुये थे। जान पड़ता है रात क्लब में दूसरे अंग्रेज अफसरों से बातचीत में उसका विचार बदल गया और सुबह फैसले पर दस्तखत करते समय उसने 'एक साथ' (Concurrent) शब्द काट कर 'क्रमशः' (Consecutive) शब्द कर दिया। सजा चौदह वर्ष हो गयी, एक शब्द के हेर-फेर से। सजा चौदह वर्ष हो जाने पर वह चौदह ही वर्ष नहीं हो जाती बल्कि निश्चित नियमों के अनुसार वह उम्र कैद मान ली जाती है अर्थात चौदह वर्ष पूरे हो जाने पर भी अपराधी के छोड़े जाने के लिये सरकारी स्वीकृति की आवश्यकता होती है। अवसरवश जिस समय श्यामकुमारी नेहरू यह समाचार लेकर आईं मेरठ केस के अभियुक्त, इलाहाबाद हाईकोर्ट में पेशी के लिये, नैनी सेन्ट्रल जेल में आये हुये थे। दफ्तर में इन लोगों से भी मुलाकात हो गयी। इन में लाहौर के लाला केदारनाथ सहगल भी थे। उन्होंने चौदह वर्ष की सजा सुन कर भी मुझे बधाई दी—" फांसी नहीं हुई यह ही क्या कम है ! मैंने भी सात और चौदह को कोई महत्व न देने की कोशिश की। अभी लाहौर और देहली में असली मुकदमे तो पड़े ही हुये थे। आशा थी इलाहाबाद में फैसला हो जाने पर उन मुकदमों का नम्बर आयेगा।

दिल्ली या लाहौर भेजे जाने की प्रतीक्षा में जो पुस्तक हाथ लग जाती पढ़ कर समय बिताया करता था। एक दिन दफ्तर से बुलावा आया। कैदी के लिये दफ्तर से बुलावा सदा ही खास बात होती है। साधारणतः जब जेल में किये अपराध की सजा के लिये सुपरिन्टेन्डेन्ट के सामने पेश होना हो, जेल से तबादला हो या कोई मुलाकात के लिये आये तभी दफ्तर से बुलावा आता है। जाकर पता चला—मिलने

वाला कोई नहीं आया था। जेलर ने एक जमादार के साथ ऊपर की मंजिल में भेज दिया। देखा तो फिर वही पुराने बनर्जी महाशय।

बनर्जी इस बार भी मेरे लिये कुछ बढ़िया आम लेकर आये थे। सोचा, अब तो मुकदमे में सजा भी हो गयी। अब ये मुझ से क्या आशा करते हैं पर अभी लाहौर और दिल्ली के मुकदमे तो बाकी थे। बनर्जी ने बताया कि उन्हें मेरी चिन्ता के कारण चैन नहीं आ सकी। इलाहाबाद का मुकदमा तो हो गया पर दिल्ली और लाहौर के तो शेष हैं। अब भी यत्न करने पर बहुत कुछ किया जा सकता है। चौदह वर्ष जेल में काटना मामूली बात नहीं है। यंग लेडी के भविष्य की भी बात सोचनी चाहिये। उन्होंने मुझे लाल रंग के कागज पर हिन्दी में छपा एक पर्चा दिखाया। बहुत छोटा सा पर्चा था जिसमें विदेशी सरकार के विरुद्ध बगावत आरम्भ कर देने की पुकार थी और नीचे छपा हुआ था, हस्ताक्षर प्रकाशवती—कमाण्डर-इन-चीफ।

प्रकाशवती के नाम से बगावत की पुकार के लिये छपा पर्चा लाकर मुझे दिखाने में बनर्जी का अभिप्राय मुझे यह बताना था कि प्रकाशवती अपने आप को कितने भयंकर संकट में डाल रही हैं। शायद मैं यह देखकर उन्हें बचाने के लिये व्याकुल हो उठूंगा। मैंने किसी भी प्रकार की उत्तेजना या चिन्ता न दिखाकर उत्तर दिया—"मैं अढ़ाई-तीन महीने से जेल में हूं। इस परचे के बारे में आप मेरी क्या जिम्मेवारी या श्रेय समझ सकते हैं। मैं इस बारे में कोई सूचना या राय नहीं दे सकता हूं न इसके बारे में सोचना चाहता हूं।" मन ही मन मुझे यह संतोष हुआ कि हमारे उद्देश्यों के लिये प्रयत्न अब तक जारी है। यह भी शंका हुई कि बनर्जी मुझे आतंकित करने के लिये जाली पर्चा ही छपवा कर न ले आये हों।

बाद में प्रकाशवती से मैंने पुरानी बातों के सिलसिले में इस पर्चे की बाबत पूछा तो उन्होंने बताया कि मेरी गिरफ्तारी के बाद राजेन्द्रसिंह आदि साथियों ने कमाण्डर-इन-चीफ के स्थान पर उनका नाम उपयोग करने की अनुमति मांगी थी और उन्होंने स्वीकार कर लिया था।

बनर्जी से निवेदन किया—"आप जानते हैं मैं जेल में हूं। बाहर क्या हो रहा है मुझे नहीं मालूम। चौदह वर्ष की जेल हुई है, उसे भुगतने के लिये तैयार हूं। लाहौर और दिल्ली के मुकदमों में जो होना है उसके लिये भी तैयार हूं। मैं आपकी कोई बात नहीं मान सकता और न सहायता चाहता हूं। आपकी भावना के लिये धन्यवाद है।"

बनर्जी ने और भी लम्बी बात की—"नौकरी का समय पूरा कर मेरे रिटायर होने का समय आ गया है। चाहता हूं, इससे पहले तुम्हारा कुछ भला कर जाऊं। तुम्हें क्या मुझ पर भरोसा नहीं है? तुम्हें यदि मुझ पर भरोसा नहीं है कि मैं अपनी

बात पूरी करूंगा या सन्देह है कि बात से फिर जाऊंगा या तुम किसी बड़े अफसर से बात करके आश्वासन चाहते हो तो मैं इसका भी प्रबन्ध कर सकता हूं । मि० पिल्डिच पर तो तुम्हें विश्वास है । देखा ही है, कितने सच्चे आदमी हैं । उनसे बात करोगे ?"

कुछ मजाक सा सूझा । उत्तर दिया—"यदि वे चाहें तो मैं बात कर लूंगा ।"

बनर्जी अपने सिर पर हाथ फेर कर बोले—"मेरे सफेद बालों का खयाल रखना । यह न हो कि उनके आने पर तुम उल्टी-पुल्टी बात करने लगो । वे इस समय नैनीताल में हैं । उन्हें वहां से बुलाना होगा ।"

"आप स्वयं सोच लीजिये ।" मैंने जिम्मेवारी टाली—"मैं कोई वायदा नहीं कर रहा हूं । वे आयेंगे तो मैं बात करने से इन्कार नहीं करूंगा लेकिन आप भविष्य में कष्ट न करें । अब मुझे सजा हो चुकी है । बाहर से आयी खाने की वस्तु लेना जेल कानून के विरुद्ध है इसलिये मैं आपके लाये आम लेने में भी असमर्थ हूं ।"

तीसरे ही दिन फिर दफ्तर से सुबह-सुबह बुलावा आया । सीधे सुपरिन्टेन्डेन्ट के कमरे में पहुंचा दिया गया । देखा, मि० पिल्डिच और मि० मार्श, दो पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट बैठे थे । पिल्डिच ने मुस्कराकर हाथ मिला कर स्वागत किया और बोले—"मैं नैनीताल में था । मुझे परसों मि० बनर्जी का फोन मिला कि आप मुझ से बात करना चाहते हैं । मैं सीधा चला आ रहा हूं ।"

"मुझे अफसोस है, मेरे कारण आपको कष्ट हुआ ।" मैंने उत्तर दिया ।

"कोई कष्ट नहीं है । मैं तो बहुत प्रसन्न हूं कि आप मुझ से बात करना चाहते हैं । हमारी पहली मुलाकात अजीब परिस्थितियों में हुई थी परन्तु तब भी मिलकर प्रसन्नता हुई थी । हां, तो क्या बात है ? अगर अकेले में बात करना चाहो तो मार्श हट जायें ।"

मैंने कहा—"नहीं, कैदी का अकेले किसी से बात करना जेल कानून के विरुद्ध है बल्कि हमारी बातचीत के समय नियमानुसार किसी जेल अफसर का रहना भी आवश्यक है ।"

पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट के आने का समाचार सुनकर मेजर ओबेराय अपने बंगले से दौड़ते हुये आये होंगे । हम लोगों को एक साथ देख कर ठिठके—"आप लोग बात कीजिये ।" वे लौट रहे थे कि मैं बोला, "जेल के नियमों के अनुसार कैदी को किसी से भी जेल अफसरों की मौजूदगी में ही मिलना चाहिये ।"

"कोई बात नहीं, सब ठीक है ।" कहकर ओबेराय चले जा रहे थे ।

मैंने आग्रह किया—"पर मैं जेल का नियम तोड़ना नहीं चाहता ।"

पिल्डिच और ओबेराय ने एक दूसरे की ओर देखा । पिल्डिच ने अनुमान प्रकट

किया—"शायद मिस्टर यशपाल चाहते हैं कि हम लोगों में जो बातचीत या समझौता हो उसका कोई भरोसे लायक गवाह रहे। मुझे इस बात में कोई एतराज नहीं है। मेजर ओबेराय, आप भी बैठिये। यह निश्चित है कि हम तीनों में जो बात होगी गुप्त रहेगी।"

ओबेराय कुछ अनिच्छा से बैठ गये। पिल्डिच ने मुझे सम्बोधन किया—"आपको क्या कहना है?"

मैंने कहा—"आपको इतनी दूर से आने का कष्ट हुआ। उसके लिये मुझे खेद है। मुझे यही कहना है कि मि० बनर्जी मुझसे मिलने न आया करें। सी० आई० डी० के अफसर मुझसे मिलने आते रहेंगे तो लोगों को मेरे सम्बन्ध में अच्छी धारणा नहीं होगी।"

"बस?" पिल्डिच ने विस्मय से पूछा।

"जी हां, अपनी ओर से तो मुझे यही निवेदन करना है। शेष आप जो पूछें उस का उत्तर दूंगा। आप बताइये, मैं आपके लिये क्या कर सकता हूं?"

पिल्डिच सोच कर बोले—"मैं तो यह अनुरोध करूंगा कि आप अपने बीते जीवन की घटनाओं की एक सच्ची और स्पष्ट कहानी लिख डालें। इसके लिये आप जो कहेंगे हम आपका अनुरोध पूरा करेंगे।"

"अपने जीवन की कहानी महापुरुष लिखा करते हैं।" मैंने उत्तर दिया, "मैं इस योग्य नहीं हूं। इससे किसी को लाभ भी नहीं होगा।"

"नहीं, ऐसी बात तो नहीं है।" पिल्डिच ने आग्रह किया, "आपने इस आंदोलन में महत्वपूर्ण भाग लिया है। आपके जीवन का और आपके संगठन का इतिहास भविष्य में बहुत से लोगों की जानें बरबाद होने से बचाने में सहायक हो सकता है।"

प्रसंग का तार तोड़ कर एक बात कह दूं। संस्मरण लिखने के लिये पिल्डिच के अनुरोध का मुझ पर यह प्रभाव पड़ा कि १९३८ में जेल से मुक्त हो जाने पर भी मैंने संस्मरण लिखने की जल्दी नहीं की। बहुत से साथियों ने 'आपबीतियां' और 'क्रान्तिकारी प्रयत्नों के इतिहास' लिखे पर मैं जानता था कि अपने तत्कालीन सहायकों को संकट में डाले बिना सब सच्ची बातें लिखी नहीं जा सकती थीं। सच्ची बातें लिख देने से अपने पक्ष की अपेक्षा अंग्रेज सरकार का ही लाभ होने की सम्भावना समझता रहा। १९४७ के बाद ही मैंने संस्मरण लिखना निरापद समझा।

मैंने पिल्डिच को उत्तर दिया—"इसका अर्थ यह है कि मैंने जिन लोगों के साथ मिल कर काम किया है, उनकी जानें आपके हाथ में दे दूं।"

पिल्डिच ने आश्वासन दिया—"मैं इस बात का विश्वास दिलाता हूं कि जिन लोगों ने हत्या या डकैती में भाग नहीं लिया है उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की जायगी।

उन्हें केवल ऐसा करने से रोका जायगा। जो लोग ऐसी घटनाओं में भाग ले चुके हैं, उनके साथ कानूनन जितनी रियायत उचित होगी, करने की कोशिश की जायगी। उद्देश्य प्रतिहिंसा नहीं है बल्कि इस प्रवृत्ति को समाप्त करना है।"

पिल्डिच बहुत स्पष्ट बात कह रहे थे इसलिये मैंने भी स्पष्ट बात करना ही उचित समझा। पूछा—"आप मुझे अपनी आपबीती और अपने साथियों का पूरा सच्चा हाल आपके लिये लिख डालने की सलाह दे रहे हैं लेकिन यदि कोई ब्रिटिश भद्र पुरुष, उदाहरणतः आप ही मेरी स्थिति में होते तो आप यह सब लिख कर दे देते ?"

पिल्डिच के चेहरे पर सुर्खी आ गयी—"हरगिज नहीं। किसी भी हालत में नहीं।"

"तो मुझे भी ऐसा ही करने दीजिये।"

पिल्डिच चुप रह गया और क्षण भर बाद बोला—"अब मैं आपका और भी आदर करता हूं। अस्तु, इस बात को जाने दीजिये। मोल-तोल की बात नहीं है। मैं पूछना नहीं चाहता। एक मित्र के तौर पर मैं आप की क्या सहायता कर सकता हूं ?"

"धन्यवाद क्या सहायता हो सकती है। सब ठीक है।" उत्तर दिया।

"नहीं, जेल में चौदह वर्ष काटवा मामूली बात नहीं है। जेल में ऊंची श्रेणी का प्रबन्ध हो सकता है। क्यों मेजर ओबेराय ?"

मैंने धन्यवाद देकर कहा—"मैं बी० श्रेणी में हूं। हिंसा के लिये अभियुक्त लोगों को 'ए' श्रेणी तो कानूनन मिल नहीं सकती।"

"नहीं, ऐसी क्या बात है। सरकारी हुक्म से सब कुछ हो मकता है।"

"धन्यवाद उसे जाने दीजिये। मैं संतुष्ट हूं। लिहाज के लिये कहते अच्छा नहीं लगता।"

"बहुत अच्छी बात। लेकिन मित्र के तौर पर सलाह दे रहा हूं कि जेल में अकेले समय काटना बहुत दूभर हो जाता है। मैं पिछले युद्ध में युद्ध-बन्दी रह चुका हूं। मुझे अनुभव है। ऐसी अवस्था में विदेशी भाषा सीखने के प्रयत्न में समय बहुत सुविधा से बीत जाता है। 'ह्यूगो' के प्रकाशन में सभी भाषाओं की स्वयं शिक्षक पुस्तकें मिलती हैं। आप भी यह काम कर सकते हैं।"

"एक सुविधा अवश्य चाहता हूं।" मैंने कहा।

"क्या ?"

"मुझे कलम-कागज रखने दिया जाये। कागज गिन कर दे दिये जायें। मैं कुछ कहानियां या निबन्ध लिखना चाहता हूं। यह चीजें बाहर भेजूं तो पुलिस उन्हें पढ़ कर देख ले। यदि उन्हें निरापद समझे तो वह चीजें मेरे मित्रों या सम्बन्धियों को दे दी जायें।"

"मि० ओबेराय, यह तो नाजायज मांग नहीं है।" पिल्डिच ने कहा और ओबेराय ने भी हामी भर ली। बहुत सौजन्यता से हाथ मिला कर हम लोगों ने विदा ली।

जेल की लम्बी मियाद में मैंने फ्रेंच और इटालियन भाषा का अच्छा अभ्यास कर लिया था। इस सुझाव के लिये मैं मि० पिल्डिच का आभारी रहा हूं।

मई का आरम्भ होगा। दफ्तर से बुलावा आया। सन्देश लाने वाले ने सामान साथ ले चलने के लिये कहा। इस का अर्थ था इस जेल से तबादला। मैं दिल्ली या लाहौर भेजे जाने की प्रतीक्षा में था ही। जेल से तबादला बहुत असुविधाजनक होता है। सजा तीन वर्ष से अधिक की होने पर तबादले के नियमानुसार बेड़ियां भी जरूर पहनायी जाती हैं। एक जेल में आदमी रस-बस जाता है, कुछ परिचय हो जाता है। नयी जगह जाने पर अफसर अपना रोब कायम करने के लिये शुरू में सख्ती भी जरूर दिखाते हैं। कहावत है, बिल्ली को पहली बार देखते ही मारना चाहिये ताकि वह आने से डरे। जेल अधिकारी इस कहावत पर बहुत विश्वास करते हैं। परन्तु दूसरी ओर लगातार एक कोठरी या बारक में रहने के बाद बाहर निकल कर कैदी वर्दी से भिन्न पोशाक में स्त्री-पुरुषों, बच्चों और पशुओं को देखने का अवसर मिलता है, बाजार, रेलवे स्टेशन, मैदानों और जंगलों की झलक भी आकर्षित करती है। जेल की भाषा में इसे 'दुनिया देखना' कहा जाता है। कैदी इस के लिये भी लालायित रहते हैं। शायद काकतालीय न्याय से कोई परिचित स्थान या चेहरा दिखा भी दे जाये। हथकड़ी-बेड़ी में जकड़े और सशस्त्र पुलिस की गारद से घिरे कैदी को सर्वसाधारण लोग चोर, डाकू, हत्यारा या महाभयंकर आदमी समझ कर जिस दृष्टि से देखते हैं, वह भी अद्भुत अनुभव होता है। कोई घृणा से मुंह फेर लेते हैं और कोई बेमतलब घूंसा-थप्पड़ दिखा कर क्रोध और घृणा प्रकट कर देते हैं। इलाहाबाद स्टेशन पर एक काली मेम साहिब ने ऐसा ही व्यवहार मुझे देख कर किया था। मैं मुस्करा कर रह गया। जेल दफ्तर में ही मालूम हो गया था कि मैं दिल्ली जा रहा हूं।

दिल्ली जेल में पहुंचते ही जिस अफसर से पहली भेंट हुई वे मुझे देख कर सकपका गये। यह थे मि० चावला। बात यह थी दिल्ली में रहते समय प्रभुदत्त के साथ एक जवान मि० चावला भी हवाई जहाज चलाने का काम सीखते थे। इस जवान चावला के एक सम्बन्धी जेल में अफसर थे। प्रभुदत्त के साथ इस अफसर के यहां मैं दो-तीन बार आया गया था। परिचय की इच्छा का प्रयोजन था कि बातचीत में इस अफसर से दिल्ली जेल में बन्द अपने साथियों का कुछ समाचार मिल सकेगा। यह साहब मुझे पहचानते न थे। मैंने उन्हें पहचान कर भी दूसरों के सामने पुराना परिचय प्रकट नहीं किया। बाद में इसे उन्होंने मेरी भलमनसाहत ही समझा होगा। मुझे एक काल कोठरी

में बन्द कर दिया गया । लेटने के लिये चटाई-कम्बल । भोजन, जेल की दाल-रोटी ।

मैंने इस व्यवहार का विरोध किया—"मैं बी क्लास का राजनैतिक कैदी हूं ।" पहला उत्तर यही मिला—"हमें कोई इत्तला नहीं है ।" चार दिन उपवास कर लेने के बाद उन्हें इत्तला हो गयी और व्यवहार ठीक हो गया । उस के दो-तीन दिन बाद चौथे पहर मुझे अदालत में पहुंचाया गया । दिल्ली केस के लिये खास अदालत पुराने सेक्रेटेरियेट में कायम की गयी थी । मुझे अलग एक कमरे में बैठा दिया गया । दूसरे कमरे से अदालती कार्रवाई की आवाजें आ रही थी । उत्सुक प्रतीक्षा थी कि अब अपने साथियों को देख पाऊंगा । खिड़की से दिखाई दे रहा था कि दिन ढल कर छायाएं लम्बी हो रही थी—क्या अदालत रात सात-आठ बजे तक बैठेगी ?

मुझे अदालत के सामने हाजिर किया गया तो अपना कोई साथी मौजूद नहीं था । जज थे, सरकारी वकील थे और मेरी सफाई के लिये दिल्ली के एडवोकेट मि० बैनर्जी थे । सरकारी वकील ने कहा—"अभियुक्त यशपाल अदालत में हाजिर है लेकिन अदालत में पेश मामला बहुत दूर तक आगे बढ़ चुका है । मुकदमा नये सिरे से शुरू करने में व्यर्थ की असुविधा और व्यय होगा । क्योंकि यशपाल को एक दूसरे अभियोग में चौदह वर्ष कठोर करावास की सजा दी जा चुकी है इसलिये सरकार दिल्ली केस के अन्तर्गत अभियोग उस पर से खारिज कर देना चाहती है ।"

मेरे वकील मि० बैनर्जी ने इस पर कोई आपत्ति नहीं की । मुकदमा समाप्त हो गया । अगले दिन मुझे इलाहाबाद लौटा दिया गया । दिल्ली में गाड़ी की प्रतीक्षा के लिये मुझे स्टेशन की हवालात में बैठा दिया गया था । हवालात में देखा दिल्ली परिवार के 'काका' श्रीकृष्ण को । हवालात में बन्द वह एक अनार के टुकड़े से दाने निकाल-निकाल कर खा रहा था । देख कर भी मैंने परिचय और विस्मय प्रकट नहीं किया । लेकिन वह कुछ द्रवित-सा हो गया था । उस ने हवालात के मुन्शी से एक मिनिट के लिये बाहर आने की इजाजत मांगी । मुन्शी मान भी गया । कुछ क्षण मुझे देखा और फिर भीतर बन्द हो गया । फरारी के दिनों में उन के यहां मैं कई बार ठहरा था । काका का गला बहुत अच्छा था । उसे याद आ गया कि मैं बहादुरशाह की गजल बहुत पसन्द करता था । कोठरी में बन्द वह उसी गजल को बहुत दरद भरे स्वर में गाने लगा—"लगता नहीं है दिल मेरा उजड़े दयार में…।" लाहौर का मुकदमा तो मुझे लाहौर अदालत में पेश किये बिना ही मुझ पर से खारिज कर दिया गया ।

नैनी जेल लौट कर फिर गोरा बारक की वही कोठरी । जेल का यह अजीब कानून है कि अभियुक्त के साथ सख्ती बर्ती जाती है और उस के अपराधी प्रमाणित हो जाने और सजा पा जाने पर उसे जेल की नियमित सीमाओं में अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता मिल

जाती है। यही मेरे साथ भी हुआ। मेरे जेल टिकट पर लिखा हुआ था—"Specially dangerous but not amounting to personal assault." इस का अभिप्राय हुआ कि 'मारपीट की आशंका तो नहीं है परन्तु इस की गतिविधि पर विशेष सावधानी चाहिये।' इसलिये मेरे प्रति कुछ विशेष चौकसी बरती जाती थी। सभी क्रांतिकारियों के टिकटों पर 'खतरनाक' लिखा रहता था। जेल में मैं चौदह वर्ष नहीं रहा। १९३७ में प्रान्तीय स्वायत्त शासन आरम्भ हो जाने के कारण २ मार्च १९३८ तक ही रहा। जेल जीवन की कहानी में कोई विशेष वैचित्र्य न जान पड़ेगा क्योंकि कांग्रेस के आंदोलन में लाख से अधिक व्यक्ति जेल काट आये हैं। पर कुछ अनुभव दूसरों से भिन्न भी हुये हैं। जेल जीवन के प्रति मानव स्वभाव का अध्ययन करने वालों की रुचि हो सकती है।

गोरा बारक में मुझे काफी दिन रहना पड़ा। योरुपियन कैदियों को प्रायः बी क्लास की सुविधाएं दे दी जाती थीं। कुछ सुविधाएं बी क्लास से भी अधिक थीं और कुछ कमियां भी थीं। गोरे सिपाही या इस बारक में रखे जाने वाले लोग कुछ विचित्र जीव थे। यों तो कानूनन जेल में पैसा रखने की सख्त मनाही होने पर भी किसी भी सेन्ट्रल जेल में हजार-दो-हजार रुपये बल्कि अधिक मौजूद रहते ही थे। सेन्ट्रल जेल की आबादी भी दो अढ़ाई हजार होती है। जेल में अपने ढंग से व्यापार भी खूब चलता था। अब भी वैसा ही होगा।

उन दिनों जेल में बीड़ी-तम्बाकू की सख्त मुमानियत थी। परन्तु कैदी अफसरों की दृष्टि बचा कर इन चीजों का मनचाहा व्यवहार कर सकते थे। छोटे-मोटे अफसरों की परवाह भी नहीं की जाती थी। सी क्लास के या हिन्दुस्तानी कैदी तो जमादारों की मार्फत अपने घर के लोगों से पैसा मंगवा लेते थे। इस तरह पैसा मंगवाने का कमीशन निश्चित और बंधा हुआ था—रुपये में चार आना। इस मामले में प्रायः बेईमानी नहीं होती थी। कानून से लड़ने वाले लोग प्रायः आपसी व्यवहार में अपनी नैतिकता का पालन दृढ़ता से करते हैं। गोरे तो कहीं से पैसा मंगा नहीं सकते थे। वे अपनी डबल रोटी, मक्खन की टिकिया, शकर या मांस का राशन बेच कर बीड़ी खरीदते थे। दर बंधा हुआ था—एक पूरी डबल रोटी, छटांक के लगभग मक्खन, शकर या साढ़े तीन छटांक मांस, इन में किसी भी चीज का मोल जेल में एक बंडल बीड़ी था। जेल का अनुभव न रखने वाले लोगों को इस भाव या दर से आश्चर्य होगा परन्तु आश्चर्य की बात कुछ न थी। डबल रोटी, मक्खन, मांस आदि सरकारी तौर पर दिये जाते थे और बीड़ी का बंडल जेल में संकट और खतरा झेल कर लाया जाता था। उसकी आयात कम और मांग अधिक थी। सोना या जवाहरात जीवन के लिये आवश्यक नहीं हैं परन्तु हमारे समाज में जीवन के लिये अनिवार्य तथा आवश्यक

वस्तुओं से इनका मोल कहीं अधिक है क्योंकि यह कम मात्रा में और कठिनाई से पाये जाते हैं। जेल के बाजार में क्रय-विक्रय का माध्यम या सिक्का बीड़ी का बण्डल ही चालू था। उसी से दूसरी चीजों की कीमत बिश्चित होती थी। उन दिनों बाजार में बीड़ी के बण्डल की कीमत तत्कालीन दो पैसे थी। गोरे अपने राशन में से कोई न कोई चीज बेच कर बीड़ी का बण्डल ले लेते थे। साधारणतः एक बण्डल तो पीते ही थे, कोई अधिक भी।

जिन लोगों की आदतें बीड़ी, तम्बाकू से ऊंचे नशे अफीम, गांजे, चरस की थीं उन्हें कुछ तकलीफ होती थी। इन चीजों के दाम अधिक थे। गोरों को ऐसा शौक पूरा करने के लिये अपने राशन की तीन-चार चीजें बेच देनी पड़ती थीं यानी डबल रोटी, मक्खन, शकर सब कुछ। कुछ ऐसे भी थे जो अपना सभी कुछ बेच देते थे और बिना दूध, शकर की काली चाय पीकर और जेल की साधारण दाल-रोटी मांग कर निर्वाह कर लेते थे। उन दिनों मैं आत्मसम्मान के विचार से बीड़ी या तम्बाकू का व्यवहार नहीं करता था। यही खयाल था कि इतनी सी बात के लिये जेल के अफसरों के सामने क्यों आंखें नीची करनी पड़ें। कांग्रेस मंत्रिमण्डल बन जाने पर जब हम लोगों को अपने खर्चे पर तम्बाकू पी सकने की इजाजत मिल गयी तो बात दूसरी थी।

गोरे प्रायः छोटी-मोटी चोरियों के अपराध में आते थे। सजा समाप्त होने पर उन्हें ब्रिटेन लौटा दिया जाता था। कुछ ऐसे ऐंग्लो इन्डियन थे जो कई बार जेल काट चुके थे। ग्रांट भी ऐसा ही आदमी था। उसे चरस पीने की आदत थी। साधारणतः गोरों का खयाल था कि मैं बहुत धनी आदमी हूं इसीलिये मुझे बी क्लास की सुविधा दी गयी है और सुपरिन्टेन्डेन्ट मेरा लिहाज करता है। यह भी उन्हें मालूम था कि मैं अंग्रेज सरकार का दुश्मन हूं। एक दिन ग्रांट ने आकर मुझ से बात की। जेल में पैसे के अभाव में चरस न मिलने के कष्ट का जिक्र करते हुये उसने कहा—"यदि तुम मेरे लिये जेल में अढ़ाई वर्ष तक चरस-गांजा मिल सकने लायक रुपये का प्रबन्ध कर दो तो मैं ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें काट दूं। केवल पांच सौ रुपये का खर्च है।"

ग्रांट की बात से विस्मित होकर पूछा—"ऐसा कौन सा उपाय है कि अकेला आदमी किसी साम्राज्य की जड़ें काट डाले?"

ग्रांट ने उत्तर दिया—"बहुत सरल उपाय है। बस पैसा चाहिये। वह भी केवल पांच सौ रुपया। मैंने यहां जेल में आकर कई गोरों को चरस पीना सिखा दिया है। चरस पीने वाला आदमी किसी काम का नहीं रह जाता। तुम मेरी ही अवस्था देख लो!" ग्रांट वास्तव में ही हड्डियों का ढांचा मात्र रह गया था। "मेरे पास पैसा हो तो पूरी ब्रिटिश फौज के गोरों को एकाध मुफ्त फूंक पिला-पिला कर यह रोग फैला

दूं। जहां दो बार चरस का दम चढ़ाया, आदत पड़ जायेगी। सिपाहियों को चरस की आदत पड़ी तो वे लोग किसी काम के न रहेंगे। जब सेना ही नहीं रहेगी तो साम्राज्य खाक रहेगा!"

इस बारक में हमारे देश पर शासन करने वाली जाति के लोगों की सिधाई या मूर्खता के भी विचित्र उदाहरण मिलते थे। बारक में हर मंगलवार की सुबह एक मेजर के पद का पादरी छावनी से गोरों को धर्मोपदेश देने आता था। ब्रिटिश साम्राज्य को अपनी सेना का धर्म विश्वास बनाये रखने की बहुत चिंता थी। पादरी महोदय गोरों के मनोरंजन के लिये लन्दन से आने वाले सप्ताह भर पुराने पत्र या कुछ सचित्र पत्रिकायें भी ले आते थे। सब लोग अपना-अपना स्टूल लेकर कोठरियों के बीच चौड़े गलियारे में बैठ जाते थे। पादरी साहब बाइबिल में से कुछ भजन गवाते और निष्कलंक कुमारी के गर्भ से उत्पन्न भगवान के बेटे में अटूट विश्वास रखने का उपदेश दे जाते। ऐसे उपदेश का प्रभाव दो-तीन घंटे रहता था। पादरी साहब को मेरी आत्मा के प्रति भी करुणा अनुभव हुई। उन्होंने मुझे भी बाइबिल पढ़ने और धर्मोपदेश में साथ बैठने का सुझाव दिया। मैं भी संगत में बैठने लगा।

एक मंगलवार दूसरे लोग तो नयी आयी पत्रिकाओं के चित्र देखने में व्यस्त थे। सिपाही डन मेरे पास बैठा ईश्वर की असीम शक्ति और दया के सम्बन्ध में धार्मिक बातचीत कर रहा था। यों ही कहीं पढ़ा हुआ एक मजाक उससे कर बैठा। पूछा—"क्या ईश्वर सर्वशक्तिमान है?"

डन ने हामी भरी—"अवश्य।"

"अच्छा बताओ, क्या ईश्वर इतना बड़ा पत्थर बना सकता है जिसे वह स्वयं न उठा सके?" मैंने प्रश्न किया।

डन ने आंखें फाड़ कर मेरी ओर देखा—"क्यों नहीं बना सकता?"

प्रश्न को दोहराकर मैंने व्याख्या की—"यदि ईश्वर ऐसा पत्थर बना सकता है तो उसमें उस पत्थर को उठाने की शक्ति नहीं होगी और यदि इतना बड़ा पत्थर बना नहीं सकता तो इतना बड़ा पत्थर बनाने की शक्ति न होगी। तुम कहते हो, ईश्वर सर्वशक्तिमान है।"

डन को इस तर्क से परेशान होते देख मैंने आगे बात की—"प्रकृति के नियम किस ने बनाये हैं?"

डन ने बताया—"ईश्वर ने।"

मैंने पूछा—"तो ईश्वर प्रकृति के नियम को क्यों तोड़ेगा? यदि नहीं तोड़ेगा तो कुमारी के गर्भ से ईसा का जन्म कैसे हो गया?"

डन ने बहुत सोच कर बताया कि स्त्री-पुरुषों के साधारणतः सम्बन्ध से भगवान के पुत्र का जन्म इसलिये नही हुआ कि वह अपवित्र है। मैंने जिज्ञासा की—"प्रकृति में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध किसने बनाया है ?"

उसका उत्तर था—"ईश्वर ने।"

फिर मैंने पूछा—"ईश्वर क्या पापी है जो अपवित्र वस्तु बनायेगा ?"

डन सप्ताह भर उस समस्या में उलझा रहा। मंगलवार के दिन पादरी के आने पर उसने यह प्रश्न पादरी से पूछ डाले। पादरी ने उसे शांति से सुनने का उपदेश देकर पूछा—"तुम्हारा विश्वास है कि ईश्वर है और उसने संसार को बनाया है और वह सर्वशक्तिमान है ?"

डन के हामी भरने पर पादरी साहब ने कहा—"सर्वशक्तिमान ईश्वर चमत्कार कर सकता है। उसी चमत्कार से उसने निष्कलंक कुमारी के गर्भ से अपने पुत्र को जन्म दिया। व्यर्थ का तर्क नहीं करना चाहिये। उससे पाप होता है।"

डन का समाधान हो गया। पादरी ने डन से पूछा—"आखिर यह तर्क तुम्हारे दिमाग में आया कहां से ?" डन ने मेरा नाम बता दिया।

पादरी ने मुझ से एकान्त में बात की—"ये सिपाही अनपढ़ हैं। इनसे ऐसी बातें नहीं करनी चाहिये। विश्वास ही तो एक चीज है जो इनकी आत्मा को शान्ति दे सकती है। उसे तोड़ना नहीं चाहिये।"

गोरा बारक के समीप ही छोटी सी जगह दीवार से घेर कर पाकिस्तान के वर्तमान (१९५३) यातायात मंत्री डाक्टर खां साहब को रखा गया था। खां साहब नजरबन्द थे। उन दिनों के हिसाब से उन्हें १०-१२ रुपये रोज व्यय के लिये मिलते थे। आजकल के हिसाब से ५०-६० रुपये समझिये। उनसे कभी-कभी चोरी-छिपे बात हो जाती थी। उनके यहां बेहिसाब फल इत्यादि आ सकते थे और वे गोरों को भी बांटते रहते थे इसलिये गोरे हमारे मिलने-जुलने की शिकायत नहीं करते थे। वैसे कोई जाकर चुगली खा लेता हो तो दूसरी बात थी। खां साहब मेरे लिये भी सब कुछ भेजने के लिये तैयार थे पर मैं विनयपूर्वक इन्कार ही कर देता। हां पुस्तकों की बात दूसरी थी। एक बहुत अच्छी पुस्तक (Historical Materialism by Bukharin) उन्हें पंडित जवाहरलाल नेहरू दे गये थे। खां साहब ने मुझे दे दी थी।

हेड जेलर मि० टैनी समझदार, अनुभवी आदमी थे। ऐसी शिकायतें टाल जाते—बात कर लेंगे तो क्या है, जेल की दीवार थोड़े गिरा देंगे। टैनी साहब प्रौढ़ गृहस्थ थे। परिवार बड़ा था। जवानी के उबाल के दिनों में दो परिवार बना बैठे थे। अब निबाह रहे थे। कुछ भैंसे रखी हुई थीं जिन का दूध बेचते थे। भैंसे कैदियों के राशन

के गल्ले और जेल के पशुओं के भूसे पर पलती थीं। इसलिये वे कैदियों को व्यर्थ चिढ़ाना नहीं चाहते थे। कभी कोई जमादार या छोटा अफसर कैदियों की तलाशी लेकर कैदियों का रुपया-पैसा निकाल कर सजा के लिये पेश कर देता तो समझा देते—"क्या फायदा झगड़े से ? रहने दो साले को। यों पैसा सरकार के पास चला जायगा। कैदी के पास रहेगा तो तुम्हें भी देगा।" उन से कैदी बहुत प्रसन्न थे। छोटी-मोटी रिश्वत लेकर भी काम कर देते थे। कैदी इन्हें आत्मीयता और आदर से 'टैनी बाबा' सम्बोधन करते थे। टैनी रिश्वत के लिये तंग भी नहीं करते थे। जिस की जैसी सामर्थ्य हो वैसी ही भेंट स्वीकार कर लेते थे। कुछ लोग तो उन के जूते में चवन्नी डाल कर ही हाथ जोड़ देते थे।

गोरा बारक में छः महीने गुजार चुका था। मन में दबी आपसी घृणा को कब तक दबा कर रखा जा सकता था। चाहता था अफसरों से कोई शिकायत या मांग न करूं। आखिर करनी ही पड़ी कि मैं असभ्य गोरे सिपाहियों के साथ नहीं रहना चाहता। मुझे गोरा बारक से हटा कर दूसरे बी क्लास के कैदियों के साथ तो नहीं रखा गया बल्कि अलग एकांत में रखा दिया गया।

नैनी जेल में एक ओर दो कमरे, बराण्डे, गुसलखानों सहित बने हुये हैं। जगह खूब ऊंची गोल दीवार से घिरी हुई थी। नाम तो इस जगह का 'कुत्ताघर' था पर जगह अच्छी थी। पंडित जवाहरलाल नेहरू, मौलाना आजाद आदि को यहीं रखा गया था। वे उन दिनों इस जेल में नहीं थे। शायद देहरादून भेज दिये गये थे। उसी जगह मुझे बन्द कर दिया गया। अन्तर यह था कि पंडित जी वहां रहते समय सुबह-शाम व्यायाम के लिये जेल की चारदिवारी के साथ घूमने जा सकते थे या दौड़ लगा सकते थे। मुझे ऐसी इजाजत नहीं थी। बिलकुल अकेला पड़ जाने से मैं दिन भर पढ़ा करता था। यहां ही मैंने 'स्वयं शिक्षक' की सहायता से फ्रेंच का अभ्यास शुरू किया था। खाली समय कहानियां भी लिखता रहता। प्रायः साल भर ऐसे ही गुजरा।

मेरे टिकट पर मुझे मोजे बुनने का श्रम या काम दिया गया था। परन्तु टैनी साहब ने न तो कभी मोजा बुनने की सिलाइयां और न सूत या ऊन ही मेरे यहां भेजा। इस लिये मेरे जेल का श्रम पूरा करने का प्रश्न उठा ही नहीं। दिन भर पढ़ना-लिखना ही समय बिताने का उपाय था। पहले अंग्रेजी में लिखने का अभ्यास शुरू किया। कई कापियां भर डालीं। फिर सोचा, मेरी अपनी भाषा है, मैं उस में ही क्यों न लिखूं। यदि मैं कोई काम की बात—साहित्यिक दृष्टि से ही सही— लिख सकूं तो उस से अंग्रेजी साहित्य को समृद्ध करना मेरा कर्त्तव्य है या अपनी भाषा हिन्दी को। यह युक्ति ऐसी चुभी थी कि केवल हिन्दी में ही लिखने का प्रण कर लिया। अपनी लिखी चीजों को

कठिन परीक्षक या आलोचक की दृष्टि से देखता और फिर लिखता। समय प्रचुर था।

नैनी जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट का तबादला हो गया। मेजर ओबेराय के स्थान पर मेजर सलामतउल्ला आये। ओबेराय तो कुछ बेपरवाह से थे। न अफसरों के कर्त्तव्य निबाहने की परवाह करते थे और न कैदियों के प्रति कड़ाई। हाजी साहब की कड़ाई की बहुत धूम थी। लेकिन मुझे उन की कड़ाई प्रायः अफसरों के प्रति ही अधिक अनुभव हुई। वे कुछ न कुछ करते रहना चाहते थे। उन्होंने स्वयं ही पूछा—"तुम्हें यहां अकेला रहना अच्छा लगता है ?" मैंने उत्तर दिया—"मजबूरी है। रखा गया हूं तो रह रहा हूं। नहीं मालूम किस आज्ञा से या किस प्रयोजन से मुझे इतने दिन से अकेले रखा जा रहा है।" हाजी ने मुझे गोरा बारक की बगल में बी क्लास की बारक में रहने के लिये भेज दिया।

बी क्लास की बारक के चार कैदियों में दो राजनैतिक थे। एक काकोरी डकैती षड़यन्त्र के गोबिन्दचरण कार और दूसरे बरेली गोलीकांड के ठाकुर टीकमसिंह। हम लोगों की अच्छी निभने लगी। कार दादा ने बंगला पढ़ने के प्रति मेरा उत्साह देखा तो शौक से पढ़ाने लगे। महीने दो महीने में खूब पढ़ने लगा। उन्हें बंगला सिखा देने का इतना उत्साह था कि जब मुझे फतेहगढ़ सेन्ट्रल भेजा गया तो उन्होंने रवि बाबू की अनेक पुस्तकें और वसुमति की बहुत-सी जिल्दें साथ दे दीं कि मेरा बंगला का अभ्यास छूट न जाये।

ठाकुर टीकमसिंह जैसे शरीर से विशाल थे वैसे ही स्वभाव और व्यवहार में भी। १६३२ में वे लगभग ग्यारह वर्ष जेल काट चुके थे। उन का मामला भी ब्रिटिश नौकरशाही के न्याय का एक अच्छा उदाहरण था। उन्हें बरेली में राजनैतिक कारण से जिला मैजिस्ट्रेट पर गोली चलाने के अपराध में बारह वर्ष कठोर कारावास की सजा मिली थी। राजनैतिक बंदियों और दूसरे बंदियों में प्रायः एक अन्तर रहता है। कैदी के अपराध की बात पूछने पर दूसरे कैदी अक्सर स्वयं को निर्दोष बताते हैं। यही सुनने को मिलता है कि उन के दुश्मनों और पुलिस ने उन के विरुद्ध अदालत में झूठी गवाही खड़ी करके उन्हें सजा दिला दी। साधारण कैदियों को मिथ्या आशा बनी रहती है कि ऐसा कहते रहने से शायद किसी माध्यम से उन के मामले पर असर पड़ जाये और उन की सजा में कमी हो जाये या वे जेल से छूट जायें। काफी आन्तरिकता हो जाने पर सच्ची बात भी निकल आती थी। फिर भी अपना अपराध स्पष्टता से स्वीकार कर लेने वाले कैदी प्रतिशत कम ही मिलेंगे। राजनैतिक कैदी इस से ठीक उलटा अपनी करनी को गर्व से बखानते थे। इस में अतिशयोक्ति की भी सम्भावना रहती थी। प्रयोजन दूसरों का साहस बढ़ाना या स्वयं संतोष पाना दोनों ही हो सकते थे।

जब आदर ही लक्ष रह जाये, सत्कर्म की चिन्ता न हो तो आदमी उल्टा भी बह सकता है। कुछ कैदी बहादुर या 'बदमाश' समझे जाकर ही ख्याति पा लेना चाहते थे। इस का उपाय था सुपरिन्टेन्डेन्ट या जेलर पर हाथ चला देना। सजा तो इस के लिये बहुत कड़ी, तीस बेंत की मिलती थी पर जेल में नाम जरूर हो जाता था। पांच-दस रुपये खर्च कर सकने वाले कैदी बदमाश समझे जाने वाले कैदियों को अपना गुड़ैत बना कर ही रोब और प्रतिष्ठा जमाने की चेष्टा करते थे। ऐसे ही एक किराये के गुड़ैत से ठाकुर टीकमसिंह को वास्ता पड़ गया। उन्होंने एक मिजाजी कैदी को किसी बात पर फटकार दिया था। बाद में एक दिन देखा कि एक छोकरा कैदी उन के सामने कुछ दूर से खम ठोक रहा था। कभी उन के सामने आकर शेखी से दो-चार दंड सपाटे लगा जाता। टीकमसिंह गम्भीर प्रकृति के आदमी थे। छोकरे के छिछोरेपन से उत्तेजित न होकर उन्होंने उसे समीप बुला कर पूछा—"क्यों, क्या बात है भैये? बेचैन क्यों हो रहे हो?"

टीकमसिंह का लहीम-शहीम शरीर सामने देख छोकरे ने हाथ जोड़ दिये—"गरीब परवर, मेरी कोई खता नहीं।···ठाकुर साहब कह रहे थे हुजूर की बेइज्जती कर दे, दो रुपये देंगे। महीना भर रोज आध सेर दूध देने को भी कहा है कि कसरत कर तैयार हो जाऊं। सरकार, आप का बच्चा हूं। ऐसी बेअदबी भला कैसे कर सकता हूं। उन्हें दिखाने के लिये आप के सामने दूर से खम ठोक जाता हूं। खता माफ हो।"

टीकमसिंह हंस दिये—"पट्ठे तू महीना भर दूध पिये जा। खूब खम ठोका कर। हमारा कुछ नहीं बिगड़ता।"

ऐसे झगड़ों में राजनैतिक कैदियों के फंस जाने की भी सम्भावना रहती थी। कभी शेखीखोर कैदियों को दूसरे कैदियों की नजरों में राजनैतिक कैदियों का सम्मान असह्य हो जाता था। कभी जेल के अधिकारी ही राजनैतिक कैदियों का गर्व तोड़ना आवश्यक समझ लेते थे।

अवध के एक ऐसे ठाकुर साहिब से जेल में वास्ता पड़ा था। किसी ताल्लुकेदार के सम्बन्धी होने के कारण उन्हें बी क्लास का सम्मान और सुविधाएं दे दी गयीं थीं। शिक्षा के नाम पर कोई भी भाषा सुविधा से लिख-पढ़ नहीं सकते थे। राजा साहब का सम्बोधन उन्हें अधिक पसन्द था। सो हम लोग भी उन्हें राजा साहब ही पुकारते थे। नाम था जीतसिंह। हम लोगों ने उसे जीतबहादुरसिंह बना दिया। कुछ दिन बाद विजयजीतबहादुरसिंह हो गया और फिर विजयप्रतापजीतबहादुरसिंह। राजा की उपाधि भी जुड़ी रहती थी। ज्यों-ज्यों नाम बढ़ता जाता, राजा साहब की मस्ती और मूंछों की ऐंठ भी बढ़ती जाती थी। दस्तखत उर्दू में कर लेते थे। क्रांतिकारी कैदियों के

जब-तब अंग्रेजी या हिन्दी की मोटी-मोटी पुस्तकें खरीदते रहने या पत्रिकाएं मंगाते रहने से उन के बहुत विद्वान और बड़े आदमी होने का रोब अधिकारियों और कैदियों पर छाया रहता था । ठाकुर साहब ने एक दिन मुझ से अनुरोध किया कि मैं उन के नाम से एक परचा सुपरिन्टेन्डेन्ट के पास कुछ किताबें मंगाने के लिये लिख दूं । किताबों के नाम पूछने पर उत्तर मिला—"आप ही ज्यादा अच्छा समझते हैं । किताब अंग्रेजी में हो । बढ़िया जिल्द वाली सुनहरी छाप की । आलमारी में रखने लायक ।"

राजा साहब के किताबें मंगाने से लाभ तो हमी लोगों को होता इसलिये तुरन्त उन के नाम से एक परचा बना दिया गया । कैदियों में अफवाह भी फैल गयी कि राजा साहब की भी बड़ी-बड़ी किताबें आ रही हैं । किताबें कभी न आ सकने पर जेल के बाबू से कारण पता लगा कि राजा साहब के हिसाब में पैसा नहीं था ।

राजा साहब अपनी बहिन या मामा की शादी की कहानी बार-बार सुनाया करते थे । इस शादी में काबुल से हरे नारियल और लौंग के गुच्छे और लंका से बादामों की टहनियां शोभा के लिये मंगवाई जाने की चर्चा होती थी । राजा साहब को अपनी कामवासना के प्रदर्शन का भी बहुत शौक था इसलिये बी क्लास के हाते के फाटक के जंगले के पास खड़े होकर लौंडों को झांका करते थे । यदि हम वहां न होते तो सम्भवतः भीतर भी बुला लेते परन्तु बी क्लास की 'प्रतिष्ठा' के विचार से यह हमें सह्य न था । राजा साहब लौंडे को फाटक की दूसरी ओर बुला कर एक हाथ से मूंछ ऐंठते हुये दूसरे हाथ से उस का हाथ दबा कर ही वासना का उद्वेग पूरा कर लेते थे ।

राजा साहब स्वयं को राजनैतिक कैदी ही समझते थे । कहते थे अवध के एक कमिश्नर से अदावत के कारण ही पुलिस ने उन्हें जेल में पहुंचा दिया । अपनी फौजदारी की कहानी सुनाने लगते तो तीस-चालीस बन्दूकें साथ ले जाने का जिक्र होता । एक दिन बघारी शेखी दूसरे दिन याद न रहती थी । कौतूहल से उन के अपराध की कहानी मालूम की गयी तो सुना कि गांव की किसी धोबिन को नूरजहां बना लेने के प्रयत्न में उस के धोबी को शेर अफगन बना बैठे थे परन्तु खुद जहांगीर न बन सके ।

जेल के संकुचित संसार में भी ईर्षा-स्पर्धा के दांव-पेंचों से लोगों का समय कटता था । कुछ लोग व्यसनी होने का गर्व प्रकट करने के लिये 'लौंडे' पालने का प्रदर्शन भी करते थे । लौंडे छैलापन दिखाने के लिये तंग जांघिया-कुर्ती पहन कर बल खाते चलते थे । हमारे समाज की सभी हीन प्रवृत्तियां जेलों में और अधिक विकृत रूप धारण कर लेती हैं । आत्मसुधार की भावना का कभी कोई उदाहरण नहीं देखा । समाज के न्याय के रक्षक अपनी शक्ति से अपराधियों से बदला लेते हैं और अपराधी उस विकट परिस्थिति में भी अपनी लत्त-धत्त पूरी करते रहने या उन पर जकड़े गये नियमों का

उल्लंघन कर सकने के गर्व में रहते हैं ।

न्याय की रक्षक शासक शक्ति का विश्वास है कि जेल के दण्ड का भय लोगों को अपराध से रोकता है । अनेक प्रकार के अपराधियों से बात करके भी ऐसा कोई प्रमाण नहीं पाया कि दण्ड का भय अपराध को रोकता हो । राजनैतिक कैदी या ऐसे अपराधी जो अपनी आन की रक्षा के लिये आवेश में कुछ कर गुजरते हैं, वे परिणाम या दण्ड की बात सोचते ही नहीं । सोचते हैं तो दण्ड भुगतने के लिये भी तैयार रहते हैं । ऐसे लोगों को अपराधी वृत्ति का या असामाजिक समझा भी न जाना चाहिये । अपराधी वृत्ति के लोगों को भी दण्ड का भय अपराध से नहीं रोकता । अपराध करते समय उन्हें पूरा विश्वास रहता है कि वे पकड़े नहीं जायेंगे । वास्तव में चार या पांच प्रतिशत से अधिक अपराधी पकड़े भी नहीं जाते । अपराध पकड़ लिया जाने पर वे इसे अपनी किस्मत समझ लेते हैं । जेल काटते समय वे अपराध न करने का निश्चय नहीं करते बल्कि भविष्य में अपराध को अधिक सतर्कता से करने का ही निश्चय करते हैं । सहधर्मियों से अनुभवों का आदान-प्रदान करके वे अपना आत्म-विश्वास और चातुर्य भी बढ़ाते रहते हैं ।

भिन्न-भिन्न जेलों में अनेक सम्प्रदायों के अनेक कैदियों से बात करने पर क्रांतिकारियों के अतिरिक्त किसी को भी नास्तिक नहीं पाया । सभी लोगों को अपने-अपने ढंग से आस्तिक और ईश्वर की दया और न्याय में विश्वास रखने वाला ही पाया परन्तु यह विश्वास उन्हें असामाजिक कामों से न रोक सका था क्योंकि वे अपराध को व्यक्ति और शासन के बीच की बात और ईश्वर भक्ति को अपनी निजी और भगवान की बात समझते थे । उन्हें पूरा विश्वास था कि शासन और समाज उन के प्रति निर्दयी है परन्तु भगवान सदय होगा । कांग्रेसी रामराज्य में जेलों की गांधीवादी आध्यात्मिकता का प्रभाव इस दिशा में क्या पड़ा है, कह नहीं सकता । १९४९ में जब एक मास के लिये लखनऊ जेल में रहने का अवसर हुआ था तो उस समय जेल अधिकारियों के ब्रिटिश राज की भक्ति के स्थान पर कांग्रेसी राज के प्रति भक्ति प्रकट करने के सिवा और कोई परिवर्तन दिखाई नहीं दिया था । अस्तु—

क्रान्तिकारी कैदियों को प्रायः ही एक जेल में दो अढ़ाई वर्ष से अधिक नहीं रहने दिया जाता था । सरकार को आशंका रहती थी हमलोग अपने प्रभाव से भेदे बना कर भाग जाने का तिकड़म न कर सकें । ऐसी आशंका के लिये कुछ आधार भी जरूर था । जिन लोगों को उम्र कैद की सजा दी जाये और जो लोग सरकार से हार मान जाने के लिये तैयार नहीं, उन का ऐसा प्रयत्न करना अस्वाभाविक भी नहीं । हमारे साथी स्वर्गीय शचीन्द्रनाथ सान्याल ऐसी कोई न कोई योजना चलाते ही रहते थे । एक

बार तो लोहे के जंगले काटने के लिये आरी वगैरा भी उन्होंने मंगवा ली थीं पर यह चीजें पकड़ ली गयीं। तब से उन पर और ज्यादा कड़ाई रखी जाने लगी थी। सान्याल दादा का मस्तिष्क निश्चल नहीं रह सकता था। एक ओर तो जेल से भाग जाने की योजनाएं बनाते रहते थे दूसरी ओर सरकार से मुक्ति के लिये दया की प्रार्थना (मर्सी पेटीशन) भी करते रहते थे। साफ बात यह है कि जेल से भागने की चेष्टा करने में मुझे नैतिक आपत्ति तो कोई नहीं थी पर मैं ऐसा कोई काम न करना चाहता था जिस की सफलता का मुझे पूरा विश्वास न हो। असफल हो जाने पर मेरी खिल्ली उड़े। कुछ दिन बाद क्रान्तिकारियों का तबादला दूसरी जेल में कर देने के नियम के कारण मुझे नैनी जेल से फतेहगढ़ सेन्ट्रल जेल में भेज दिया गया।

फतेहगढ़ जेल में उस समय सुपरिन्टेंडेंट मेजर ओबेराय ही मिले परन्तु हैड जेलर थे, सरकार भक्ति के लिये बहुत बदनाम सर्दार गंडासिंह। अंग्रेज सरकार ने उन्हें राजभक्ति या राजनैतिक कैदियों के साथ सख्ती का व्यवहार करने के उपलक्ष में 'सरदार बहादुर' और 'आफिसर आफ ब्रिटिश एम्पायर' का खिताब दे दिया था। कुछ दिन बाद ओबेराय की जगह मेजर रामनारायण भंडारी सुपरिन्टेंडेंट बन कर आ गये। भंडारी की सरकार भक्ति की कीर्ति गंडासिंह से भी कुछ ज्यादा ही थी। जेल में बात-बात पर कड़ी सजा देने में उन का बहुत नाम था। उन के जेल में कदम रखते ही जेल भर में ऐसे सन्नाटा छा जाता था मानों सब को सांप सूंघ गया हो। मेजर भंडारी और दूसरे भी कई सुपरिन्टेन्डेन्टों के रोब और तानाशाही की कई दंत-कथायें जेलों में प्रसिद्ध थीं। उदाहरणत: जेल के किसी पशु के सुपरिन्टेन्डेन्ट के सामने सिर हिला देने या रंभा देने पर पशु को बेंतों की या तनहाई बंदी की सजा दे देना। भंडारी के लिये मशहूर था कि एक बार उन के सड़क पर जाते समय हवा से पीपल के पेड़ के पत्ते खड़क-खड़ा गये। साहब ने पीपल को बारह बेंत लगा दिये जाने का आर्डर लिख दिया था।

ब्रिटिश अमलदारी में जितना रोब वायसराय का होता था, जेलों में सुपरिन्टेन्डेन्ट का रोब उस से कुछ अधिक ही था। अंग्रेज सरकार ने जेलों में सुपरिन्टेन्डेन्ट के सम्मान के कुछ ऐसे कायदे बना दिये थे कि सुपरिन्टेन्डेन्ट में रोब अनुभव करने का लोभ बढ़ता जाता था। इन कायदों में कांग्रेसी राज में कुछ कमी आ गयी है या नहीं, कह नहीं सकता। सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब जब भी जेल के मुआइने के लिये चलते थे, उन से पांच-छ: कदम आगे-आगे जेल के दो सिपाही शरीर रक्षक के तौर पर चलते थे। सुपरिन्टेंडेंट के किसी हाते में प्रवेश करने से पहले ही 'रपट बढ़' जाती थी—'साहब आ रहे हैं।' रपट होते ही सब कैदी सिमिट कर एक लाइन में बैठा दिये जाते थे। कैदियों को लाइन में, विशेष मुद्रा में, घुटने जोड़ एड़ियों पर बैठना होता था और उन के दोनों हाथ

सामने खुले फैले रहते थे ताकि विश्वास रहे कि कैदी के हाथ में हमले योग्य कोई आशंकाजनक वस्तु नहीं है। किसी कैदी को साहब के सामने पेश किया जाता था तो उसे दो सिपाहियों के बीच खड़ा होना पड़ता था। योरुपियन कैदियों को या बी क्लास के कैदियों को साहब के सामने उस तरह तो नहीं बैठना पड़ता था परन्तु बिलकुल सीधे, निश्चल, दोनों हाथों में अपना रजिस्टर (टिकट) थाम कर खड़ा होना पड़ता था। क्रान्तिकारी यों बुत की तरह खड़े होने में अपना अपमान समझ कर यह कायदा न मानते थे। कई बार इस पर झगड़े हुये। आखिर जेल अधिकारी गम खा गये। साहब की बगल में हैड जेलर रहता था। अगल-बगल और तीन चार सिपाही। पीछे असिस्टेंट जेलर, जेल का डाक्टर, दारोगा, गोदाम बाबू वगैरह। धूप या वर्षा होने पर एक कैदी जमादार सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब के सिर पर राजछत्र के आकार से बड़ा छत्र उठाये रहता था। जेल अधिकारियों की अपना रोब कायम रखने की इच्छा के कारण, अधिकारियों और क्रान्तिकारियों में सदा ही तनातनी चलती रहती थी।

फतेहगढ़ सेन्ट्रल जेल में मुझ से पहले दो क्रान्तिकारी कैदी मौजूद थे। मन्मथनाथ गुप्त और दूसरे मणीन्द्रनाथ बैनर्जी। मन्मथनाथ कारोरी षडयंत्र के अभियुक्त थे और मणीन्द्रनाथ सी० आई० डी० के डिपुटी सुपरिन्टेन्डेन्ट बैनर्जी (इन की पर्याप्त कीर्ति ऊपर कह आया हूं) को गोली मारने के अभियुक्त थे। मणी रिश्ते में डिपुटी सुपरिन्टेंडेंट बैनर्जी के भान्जे थे। यहां बी क्लास क्रान्तिकारी कैदियों का हाता काफी बड़ा था और उस में यह दो कैदी बंद थे। सरदार गंडासिंह के प्रबन्ध से हाते पर लोहे की चादर का दरवाजा था। भीतर से बाहर और बाहर से भीतर कोई समाचार आने-जाने की सम्भावना न थी। मन्मथ और मणि मेरे आने से पहले ही आत्म-सम्मान के प्रश्न पर जेल अधिकारियों से काफी लड़ाई लड़ चुके थे और लम्बी भूख हड़ताल के बाद समझौता हुआ था। प्रश्न था, जेल के नियम के अनुसार रस्सी बंटने से इनकार करना और जेल नियम के अनुसार बी क्लास के कैदियों को मिलने वाली सुविधाएं उन्हें न दी जाना। मैं नैनी जेल से फतेहगढ़ मई-जून के आरम्भ में पहुंचा था। देखा कि फतेहगढ़ में नैनी जेल की तरह बारक में रात के समय पंखों का प्रबन्ध नहीं था, न पलंग दिये गये थे। इस सम्बन्ध में शिकायत करने पर और नैनी की योरुपियन बारक और बी क्लास का उदाहरण देने पर उत्तर मिला कि जेल मैनुअल (जेल विधान) में ऐसा कोई कायदा नहीं है। जेल में जेल मैनुअल ही 'वेद' समझा जाता था। मजे की बात यह थी कि जेल मैनुअल कैदियों को नहीं दिखाया जाता था, जैसे वेद तक दास और शूद्र की पहुंच नहीं होती। वह शासक वर्ग के अधिकारों की रक्षा का साधन था। हम लोगों के जिद्द करने पर ही वह हमें दिखाया गया।

जेल अधिकारियों का आग्रह था—जो जेल मैनुअल में नहीं लिखा वह हो नहीं सकता और जो लिखा है वह टल नहीं सकता। जेल मैनुअल तो इस ढंग से बना था कि उस का अक्षरशः पालन हो ही नहीं सकता था। यदि कोई अफसर उस का पूरा पालन करने का यत्न करता तो अपनी जान ही जोखिम में डालता। यही बात आज भी होगी। उदाहरणतः उन दिनों जेल मैनुअल के अनुसार कैदियों को गाने-बजाने का, एक साथ मिल कर हंसी-ठट्ठा करने का अथवा जेल की रसोई से मिली दाल-रोटी के अतिरिक्त कोई चीज रांध लेने का या रुपया-पैसा पास रखने का कड़ा निषेध था परन्तु त्यौहारों के अवसर पर कड़ाई से यह नियम लागू करने का साहस और क्षमता किसी अफसर में न थी। दिवाली की रात हर सेन्ट्रल जेल में हजारों रुपये का जुआ हो जाता था। नाच-गाना भी होता था। होली के अवसर पर तो नाच-गाने का ऐसा भयंकर समारोह होता कि हम दो-दो सौ गज परे की बारकों से पांव के धमाके और घुंघरुओं का शब्द सुन पाते। टैनी बाबा ऐसे जेलर होते तो उचित दक्षिणा देने पर हारमोनियम-तबला भी एक दो रात के लिये जेल में आ सकता था वर्ना तसले और घड़े की गमक से तो वातावरण गूंजता ही रहता। फाग, लावनी, बिरहे और गजलों की उन्मुक्त तानें भी उठती रहतीं। जेल भर में कड़वे तेल की पूड़ी-पकवान बनते और बंटते। छोटे-मोटे अफसर इस समारोह का आनन्द उठाते थे। जेलर और सुपरिन्टेंडेंट अनजान बन कर अपना रोब बनाये रहते।

नैनी जेल की कुत्ताघर बारक में यद्यपि मैं बिलकुल अकेला था और सुविधाएं अधिक थीं परन्तु समय का सद्-उपयोग फतेहगढ़ जेल में ही अधिक हुआ। कारण यह कि मन्मथ और मणीन्द्र खूब आत्मानुशासन से चल रहे थे। जेल में आते समय दोनों की ही आयु बहुत कम थी। अभी विद्यार्थी ही थे। मणी की सजा तो केवल सात ही वर्ष की थी परन्तु मन्मथ को आजन्म कारावास का दण्ड था। दोनों ही दिन का अधिकांश भाग स्वाध्याय में लगाते थे। मन्मथ ने उस समय भी फ्रेंच का खूब अभ्यास कर लिया था। रशियन पढ़ रहे थे। हिन्दू-उर्दू की भी जो पुस्तक मिल जाती, चाट जाते। समय पर सोना, जागना और व्यायाम भी। उस समय मन्मथ को जेल से छूट जाने की कोई आशा नहीं थी; थी भी तो बीस वर्ष पूरे करके। इसलिये ऐसे आत्मानुशासन के लिये बहुत दृढ़ निष्ठा की आवश्यकता थी।

जिस समय मैंने फतेहगढ़ जेल की बारक में कदम रखा, मन्मथ और मणी ने एक क्रान्तिकारी बंदी के नाते हाथ मिला कर और अंग्रेजी में बात कर मेरा स्वागत किया परन्तु मेरे सिर पर योरुपियन बारक की वर्दी का हैट, सामान और कमोड वगैरा देख कर आपस में बंगला में छींटा कसा—"ये बेटा तो साहब है।" उन्हें मेरे बंगला जानने

की कोई आशंका नहीं थी। मैं भी बात पी गया परन्तु ऐसे स्वागत का प्रभाव मन पर अच्छा नहीं हुआ। बहुत अधिक आत्मीयता या बेतकल्लुफी हम लोगों में कभी नहीं हुई। कुछ खिचाव-सा बना रहता, ऐसा कि आपसी व्यवहार में शिकायत का मौका न आने देने की सतर्कता बनी रहती। वे लोग आपस में गपबाजी करते तो बंगला में और मुझ से बोलते तो अंग्रेजी में। मन्मथ हिन्दी क्या ठेठ बनारसी हिन्दी भी खूब अच्छी बोल लेते थे परन्तु मेरे पंजाबी होने या साहब होने के कारण अधिकांश में अंग्रेजी का ही व्यवहार करते। परिणाम यह हुआ कि अधिक समय पढ़ाई-लिखाई में जाता। मन्मथ से फ्रेंच की कई पुस्तकें मिल गयीं। फ्रेंच का अच्छा अभ्यास हो गया। हम दोनों ने इटालियन पढ़ना शुरू कर दिया।

पिंजरे की उड़ान की अधिकांश कहानियां मैंने फतेहगढ़ सेन्ट्रल जेल में ही लिखी थीं। एक उपन्यास भी लिखा था जो कभी प्रकाशित नहीं हुआ, इस योग्य भी नहीं। आपस में कुछ खिचाव रहने पर भी जेल अधिकारियों के साथ व्यवहार में कभी भेद नहीं आया। राजनैतिक कैदियों के जेल जीवन में सब से बड़ा संकट तभी आता था जब उन की जीवन शक्ति कोई निकास न पाकर आपसी मतभेदों से टकराने लगती थी। जेल के अधिकारी सदा ही ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में रहते थे। राजनैतिक कैदियों के एक साथ रहने पर जेल अधिकारियों से उन का कोई न कोई संघर्ष चलते रहना ही अच्छा रहता था। फतेहगढ़ जेल में ऐसा भी समय आया। मन्मथनाथ गुप्त, मणीन्द्र बैनर्जी और मुझे तो कुछ उचित सुविधाएं न मिलने की शिकायत थी ही तिस पर हमें समाचार मिला कि जेल के दूसरे हाते में बन्द क्रान्तिकारी कैदी रमेशचन्द्र गुप्त ने अनशन कर दिया है।

रमेशचन्द्र गुप्त कानपुर का विद्यार्थी था। कानपुर में यह बात फैल जाने के कारण कि वीरभद्र ने आजाद के साथ विश्वासघात किया है, वीरभद्र का शहर में रह सकना ही कठिन हो गया था। वह कानपुर छोड़ उरई में जा बसा था। रमेश को विश्वास था कि वीरभद्र ने आजाद के साथ विश्वासघात किया है। उस ने रामलीला के अवसर पर उरई जाकर वीरभद्र पर गोली चला दी। वीरभद्र तो बच गया परन्तु रमेश गिरफ्तार हो गया। रमेश को सात वर्ष कठोर कारावास की सजा मिली थी। बहुत बार तकाजा करने पर भी उसे बी क्लास में न रखा गया था। तंग आकर उस ने मांग पूरी कराने के लिये अनशन कर दिया था। यह मालूम होने पर कि क्रान्तिकारी कैदी उचित मांग के लिये अनशन कर रहा है, हम लोगों का भी कर्तव्य हो गया कि उस की सहानुभूति में अनशन करके उसे नैतिक सहायता दें। रमेश को सन्देश भेज दिया कि तुम डटे रहना, हम लोग भी अनशन कर रहे हैं। हम लोगों ने जेल अधिकारियों

को सूचना दे दी कि हम अपने साथ उचित व्यवहार न होने और रमेशचन्द्र गुप्त के साथ अन्याय के विरोध में अनशन कर रहे हैं। अनशन आरम्भ कर दिया।

क्रान्तिकारी लोग अनशन को आध्यात्मिक प्रभाव डालने का या भगवान की सहायता पाने का साधन नहीं समझते थे। अनशन का अर्थ था अपनी मांगों के प्रति सार्वजनिक भावना की सहायता उत्पन्न करना और अपनी प्रतिद्वन्द्वी सरकार के प्रति जनता में घृणा और विरोध पैदा करना। हमारे अनशन का प्रभाव जनता तक समाचार पहुंचने से ही हो सकता था। फतेहगढ़ जेल में ऐसा अवसर प्राय: कम ही था। ऐसी अवस्था में हमारा अभिप्राय सरकार पर यह व्यक्त करना था कि तुम जो चाहो कर लो, हम दबेंगे नहीं। जैसे-तैसे सूचना बाहर चली ही गयी। जेल अधिकारियों के लिये यह ही बड़ी बात थी कि रमेश के अनशन की सूचना हमें मिल कैसे गयी। पहरे बदल दिये गये। पहले से भी अधिक कड़ाई हो गयी।

हमारा यह अनशन, जहां तक याद है, अठारह या उन्नीस दिन ही चला। क्रांतिकारी लोग अनशन के समय गांधीवादियों की तरह पानी में नींबू का रस या सोडाबाइकार्ब आदि कुछ भी डाल कर नहीं पीते थे। गांधी जी की तरह बादाम रोगन की मालिश नहीं कराते थे। क्रान्तिकारियों के जेल जीवन में अठारह-उन्नीस दिन के अनशन का कोई विशेष महत्व नहीं था। मन्मथ और मणी पहले भी लगभग एक-एक मास का अनशन और मन्मथ उस से पहले किसी दूसरी जेल में साठ दिन का अनशन कर चुके थे। जोगेश चैटर्जी ने तो आगरा जेल में डेढ़ सौ दिन का अनशन किया था। अनशन के इक्कीस या चौबीस दिन गुजर जाने के बाद बलात् दूध देना (फोर्स फीडिंग) आरम्भ कर दिया जाता था ताकि कैदी के मर जाने से जनता में अशान्ति न फैले। बलात् दूध देने का ढंग बहुत पीड़ाजनक था। अनशनकारी की नाक से रबड़ की नली द्वारा पेट में दूध पहुंचा दिया जाता था। नाक की राह रबड़ की नली पेट में पहुंचाने की प्रक्रिया में बहुत कष्ट होता था।

इस लम्बे अनशन या निराहार रहने से आत्मा के निर्मल या सबल हो जाने का कोई आभास न मुझे और न हमारे कभी किसी दूसरे साथी को हुआ। अनशन में पहले तीन दिन बहुत कष्ट होता है फिर उस अवस्था का अभ्यास होने लगता है। काफी दिन गुजर जाने पर उठने-बैठने या हाथ-पांव हिलाने में भी कष्ट अनुभव होता है। ध्यान केवल आता है भोजन का। कल्पना में तरह-तरह के भोजनों की गंध और स्वाद अनुभव होने लगते हैं। अनशन के अनुभवों के बारे में बहुत से साथियों से बात की है। हम लोग तो तीनों ही निरीश्वरवादी थे परन्तु टीकमसिंह बहुत आस्तिक थे। उन्हें भी साठ दिन के अनशन में कभी कोई आध्यात्मिक प्रेरणा या सांत्वना अनुभव न हुई

थी। वे बचपन से और जेल में भी निरामिष भोजी थे परन्तु बताते थे कि जाने क्यों अनशन के समय और वस्तुओं की अपेक्षा उन का मन उबले हुये अंडे के लिये बहुत करता था। इस इच्छा को वे रोके ही रहे।

मन्मथ अपने पूर्व अनुभव के आधार पर बताया करते थे कि मेजर भंडारी अनशन करने वाले क्रांतिकारियों को पीड़ा पहुंचाने के लिये अपने चिकित्सा ज्ञान का भी पूरा उपयोग करता था। यह ठीक है कि अनशन के समय बलात् दूध पिलाने (फोर्स फीडिंग) से बहुत पीड़ा होती थी। क्रान्तिकारी बलात् दूध पिलाने का विरोध भी करते थे परन्तु विरोध करने पर भी जब फेटे हुये अंडे और संतरे का रस मिला हुआ दूध पेट में चला जाता था तो शरीर और मस्तिष्क को शांति अनुभव होती थी। यह प्राकृतिक या स्वाभाविक था कि अनशन करने वाले का शरीर बलात् भोजन दिया जाने की प्रतीक्षा करने लगे। भंडारी अनशनकारी के सामने आज्ञा देता कि बलात् दूध पिलाने की तैयारी की जाये। अनशन करने वाले के समीप एक मेज पर दूध और रबड़ की नालियां रख दी जाती थीं। अनशनकारी का अन्तरात्मा पीड़ा और विरोध के बावजूद दूध पेट में पहुंच जाने की सांत्वना की कल्पना करने लगता था। भंडारी अपने अमले के साथ पुन: आता। अनशनकारी की नब्ज देख कर उपेक्षा से कह देता—"अभी क्या जरूरत है फोर्स फीडिंग की। अभी तो इस के शरीर में बहुत शक्ति है।" बलात् दूध देने का सामान हटा दिया जाता। उस समय अनशनकारी तात्कालिक पीड़ा से बच कर भी कितना निराश होता होगा? जीवित रहने की इच्छा और आशा का, जो कि जीव का स्वभाव है, कुण्ठित हो जाना कितना पीड़ाजनक होता होगा?

अठारहवें या उन्नीसवें दिन समाचार मिला कि कानपुर से रमेश के सम्बन्धी बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' को लेकर आये थे। रमेश को बी क्लास दिये जाने का आश्वासन दे दिया गया है और उस ने अनशन तोड़ दिया है। हमारे अनशन का मुख्य आधार समाप्त हो गया था इसलिये हमने भी अनशन समाप्त कर दिया परन्तु यह भी कह दिया कि हमारी असुविधाएं दूर न की गयीं तो हम फिर अनशन कर देंगे। अनशन के बाद हमारी मांगें पूरी हो गयीं परन्तु यह अनशन बहुत महंगा पड़ा।

जेल में पहले किये हुये अनशनों के कारण मणी बैनर्जी का स्वास्थ्य यों भी बहुत निर्बल था। उसे हृदय रोग हो गया था। इस अनशन से उस की अवस्था और बिगड़ गयी। भंडारी ने मणी को उचित इलाज के लिये हमारी बारक से हटा कर अस्पताल के समीप बने कमरों में भिजवा दिया। तीन-चार दिन बाद ही हमें सूचना दी गयी कि बैनर्जी की अवस्था चिन्ताजनक है। हम चाहें तो उस से मिलने जा सकते हैं। भंडारी के उस समय के व्यवहार को देखते यह असाधारण सौजन्य था।

हम लोग हस्पताल गये। मणी की अवस्था बहुत खराब थी। वह श्वास न आ सकने के कष्ट के कारण छटपटा रहा था। उस की पीड़ा देख कर हम दोनों दहल गये। मणी के हाथ-पांव सूज गये थे। आंखों पर सफेद झिल्ली-सी छा गयी थी। वह न लेट पाता था, न बैठ सकता था। उस की जीवन शक्ति बनाये रखने के लिये उसे आक्सीजन गैस दी जा रही थी। आक्सीजन देने वाला हस्पताल का डाक्टर इतना ज्ञानी था कि उसे यह भी मालूम न था कि सिलेंडर की चाबी किस ओर घुमाने से गैस बाहर आयेगी या गैस आ रही है या नहीं, यह जान सके। मैंने उसे अपने परिमित ज्ञान से बताया कि नली के सामने दिया सलाई जला कर देखो। गैस आने पर लौ बहुत बढ़ जानी चाहिये। गैस दिया जाने का प्रभाव अच्छा ही दिखाई दिया।

कुछ क्षण के लिये श्वास ठीक से आने लगता तो मणी ठीक ढंग और बहुत समझदारी से बात करने लगता था। इस सम्बन्ध में दूसरे भाग में क्रान्तिकारियों की विचारधारा के प्रसंग में भी लिख चुका हूं। पुनरावृत्ति न करने के लिये यहां संक्षेप में ही लिखूंगा। यह स्पष्ट ही जान पड़ रहा था कि मणी कुछ ही मिनिट का मेहमान है। उस का कष्ट मृत्यु की सम्भावना से भी अधिक भयानक जान पड़ रहा था। मणी की अवस्था से मन्मथ बहुत ही व्याकुल हो गया। मणी को सान्त्वना दे सकने के लिये या उस की पीड़ा कम कर सकने के लिये, सम्भव-असम्भव सभी कुछ करने की इच्छा से, मन्मथ ने मणी के समीप बैठ कर हाथ जोड़ कर प्रार्थना के ढंग से कहा—"मैं तार्किक प्रवृत्ति के कारण नास्तिक हूं। मुझे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं है। परन्तु आस्तिकों का विश्वास है कि अंतिम समय भगवान से साक्षातकार होता है। आस्तिक भगवान को अत्यन्त दयालू और चमत्कारिक शक्ति-सम्पन्न मानते हैं। सम्भव है मेरा तर्क गलत रहा हो इसलिये मैं प्रार्थना करता हूं कि यदि सचमुच भगवान का कोई अस्तित्व है तो वे इस समय तुम्हारा दुख दूर कर दें। यदि तुम्हारा दुख दूर हो जाय तो मैं विश्वास कर लेने के लिये तैयार हूं।"

मन्मथ के यह प्रार्थना करते समय मणि श्वास के लिये अत्यन्त कष्टपूर्ण संघर्ष कर रहा था। उस के बाद उस की श्वास की नली कुछ क्षण के लिये ठीक हो गयी। मणी खिन्नता से बोला—"डैम यौर गौड ऐंड डैम हिज मर्सी (भाड़ में जाये तुम्हारा भगवान और भाड़ में जाये उस की दया)। लोग बकते हैं कि अन्तिम समय भगवान दिखाई देता है। मुझे तो कुछ भी नहीं दिखायी दे रहा। मेरे अन्तिम श्वासों के समय मेरा मस्तिष्क धुंधला न करो। मुझे कायर और कातर बनाने की चेष्टा न करो।" इतनी बात कह कर मणी का श्वास कष्ट चरम सीमा पर पहुंच गया। उसे एक जबर-दस्त हिचकी आयी। उस की श्वास की नाली सदा के लिये झटक गयी या हृदय उस

दबाव को सहार न सका। पीड़ा से ऐंठा हुआ उस का शरीर शिथिल और सीधा हो गया। मणी के इन शब्दों को परलोक के द्वार पर या भगवान के सम्मुख खड़े व्यक्ति के अन्तिम शब्द कहा जा सकता है। वह मृत्यु के सामने भी अपने विश्वास पर अडिग था।

मणी की मृत्यु यद्यपि हस्पताल के पलंग पर हुई परन्तु उस का भाव या व्यवहार अपने विचारों और आदर्शों के लिये रणक्षेत्र में जूझ जाने का ही था। सैद्धान्तिक दृष्टि से मणी का व्यवहार हि०स०प्र०स० या तत्कालीन क्रान्तिकारियों के आध्यात्म-सम्बंधी विचारों का प्रतीक माना जा सकता है।

मणी की मृत्यु से हम लोग कुछ समय के लिये अवसन्न से रह गये परन्तु सप्ताह भर के भीतर ही हमारी अनशन की लड़ाई के विजय के स्वरूप रमेशचन्द्र गुप्त को बी क्लास देकर हम लोगों के साथ रहने के लिये भेज दिया गया। रमेश की आयु कम थी। वह मैट्रिक पास कर सकने से पहले ही जेल में पहुंच गया था। उस अल्हड़ नौजवान का पिस्तौल लेकर वीरभद्र पर आक्रमण करना देशभक्ति की भावना से, देशद्रोह के काम का विरोध करने का प्रतीक था। मन्मथ और मेरे कहने से रमेश ने पढ़ने-लिखने में मन लगाना शुरू कर दिया। कुछ ही दिन बाद बी क्लास के एक कांग्रेसी सत्याग्रही कैदी, कानपुर के शिवराम पांडे को भी हमारे साथ ही रहने के लिये भेज दिया गया। पांडे जी बहुत ही विनोदी और सरल स्वभाव हैं; इलाहाबाद या आगरा यूनिवर्सिटी के ग्रेजुएट। वे आजकल (१९५२ के चुनाव में) उत्तर प्रदेश विधान सभा के सदस्य हैं। पांडे जी अपना अधिकांश समय सत्याग्रही बन्दियों की भांति सरसों की तेल से मालिश, कसरत और गीता पाठ में लगाते थे। उनकी संगति से हमारा कुछ समय हा-हा, हो-हो में भी बीतने लगा।

शिवराम जी पांडे को क्रान्तिकारियों के प्रति सहानुभूति और आदर था। यह सुनकर कि मैं भगतसिंह का सहपाठी और सहयोगी रहा हूं, उनका कौतूहल और बढ़ा। वे अपनी कई जिज्ञासाओं और शंकाओं का समाधान करने लगे। इसी प्रसंग में उन्होंने पूछा—"सुना है कि जब भगतसिंह जी और चन्द्रशेखर आजाद जी (वे आदर के लिये सदा जी शब्द का प्रयोग करते थे) विलायत से जहाज पर आ रहे थे, एक गोरे ने भारत माता की शान में कुछ अपशब्द कह दिये। भगतसिंह जी ने गोरे को पिल्ले की तरह कान से पकड़ कर उठा लिया और समुद्र में फेंक दिया। क्या यह बात सच है ?" मुझे हंसी आ गयी। पांडे जी को बताया कि आजाद और भगतसिंह कभी विलायत नहीं गये थे। यह बात सच नहीं हो सकती। पांडे जी की इच्छा थी कि मुझ से समर्थन पाकर इस कहानी को अपने व्याख्यानों में सुनाकर देशभक्ति की भावना

को प्रोत्साहन देते। इन्कार सुनकर उन्होंने कुछ निराशा और सन्देह से मेरी ओर देखा—मानों, यह बात तो सच ही होनी चाहिये, मैं भगतसिंह के महत्व से ईर्षा करके इस घटना से इन्कार कर रहा हूं। बाद में भी अपने दल के नेताओं के बारे में तथ्य बातें कहने या अत्युक्ति से इन्कार करने, उन्हें अपौरुषेय स्वीकार न करके मैंने बहुत लोगों को निराश किया है पर संस्मरणों में तो जो देखा है वही लिखना होगा, यह उपन्यास या कल्पना की सामर्थ्य आजमाने का अवसर नहीं है।

अपनी गिरफ्तारी के बाद मुझे पहले लाहौर में दुर्गा भाभी और फिर दिल्ली में सुशीला दीदी की गिरफ्तारी का समाचार पत्रों से मिल चुका था। हम लोगों के अनशन से कुछ ही पहले १९३४ जून में प्रकाशवती की गिरफ्तारी दिल्ली में हो जाने का भी समाचार मिल गया था। यह चिन्ता जरूर थी कि अब उनका क्या होगा? इससे पहले वे अपनी फरारी के समय मेरे भाई के पत्रों या मुझे पत्र लिखने वाले दूसरे लोगों के पत्रों में घुमा-फिराकर अपनी बात लिख भेजती थीं। मैं भी, जो कुछ कहना होता, घुमा-फिराकर उपमा और व्यंजना से लिख भेजता। महीने में एक ही बार पत्र लिख सकने का नियम था इसलिये पत्र कभी-कभी दो-तीन ताव के आकार का भी हो जाता, कभी इससे भी बड़ा। हमारे लिखे पत्र और हमारे नाम आये पत्र सब गुप्तचर विभाग के हाथों से गुजरते थे। गुप्तचर विभाग को भी सन्देह था कि हम लोग लक्षणा और व्यंजना से कुछ गुप्त बातें करते हैं जिन्हें वे समझ नहीं पाते। उन्हें यह भी आशंका थी कि हम जेल से ऐसा सन्देश न भेज दें जिससे कोई उथल-पुथल मच जाये या ऐसा सन्देश पत्र द्वारा न पा लें जिससे हम जेल तोड़ कर भाग जायें। गुप्तचर विभाग हमारे पत्र में जिन पंक्तियों को समझ नहीं पाता था उन्हें तेल की स्याही फेर कर काला कर देता था। कभी ऐसा भी होता था कि पूरे पृष्ठ में कुछ ही शब्द शेष रह जाते थे।

इस समय तक जेल में प्रायः दो वर्ष बीत चुके थे। स्थिरता आ गयी थी। हमें स्टेट्समैन या हिन्दी का भारत आदि सरकार का समर्थन करने वाले पत्र ही दिये जाते थे। इन पत्रों में से भी, जहां तक जेल अधिकारियों की चौकसी काम देती, क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बन्ध रखने वाले समाचारों को काट लिया जाता या उन पर स्याही पोत कर अपाठ्य कर दिया जाता था। फिर भी यह मालूम हो गया था कि मेरठ, कानपुर, देहरादून आदि में कुछ हो ही रहा था। पुलिस एक देहरादून-कानपुर षड़यंत्र केस चलाने की व्यवस्था कर रही थी। विश्वास था कि जितना हम जान पाते हैं उस से अधिक ही हो रहा होगा। प्रायः पढ़ते-लिखते रहने और चुप सोचते रहने के समय यह भी खयाल आता कि जेल में रह कर और जेल में अभी बारह वर्ष और बिताने

के बाद रिहा होकर मैं क्या कर सकूंगा, किस योग्य रहूंगा। उस समय आयु चालीस से ऊपर होगी। चालीस से अधिक आयु में जीवन आरम्भ करना होगा। शारीरिक रूप से निष्क्रिय रहने के कारण स्वास्थ्य कुछ ठीक नहीं चल रहा था। जेल से रिहाई के चित्र की कल्पना जीवन के संध्या काल के पट पर ही हो सकती थी। केवल एक ही सम्भावना थी कि मैंने जीवन के लिये जो लक्ष्य स्वीकार किया है, उसके प्रति दूसरों को आकर्षित और उत्साहित करता रहूं, राष्ट्रीय मुक्ति के संघर्ष की परम्परा कायम रहे। मेरा साधन केवल कलम ही हो सकेगा। यह समय उस साधन के लिये साधना करने का है। अपने भविष्य जीवन की कल्पना मैं एक अकेले परिवारहीन व्यक्ति के रूप में ही करता था।

दूर तक कल्पना कर लेने का स्वभाव होने के कारण अपनी प्रौढ़ावस्था के जीवन की कल्पना बहुत ब्यौरे से कर ली थी। पीछे कोई सम्पत्ति या जीविका का साधन न होने के कारण कल्पना थी कि किसी राष्ट्रीय पत्र में वेतन पर काम करूंगा। चालीस पार करके जब काम आरम्भ करूंगा तो उन्नति करके प्रधान सम्पादक बनने का दिन क्या आयगा। साठ-सत्तर रुपये का उप-सम्पादक ही हो सकूंगा। पुस्तकें लिखकर निर्वाह करने की बात नहीं सोची थी। अपने जीवन का मार्ग बदल कर विश्राम करने की बात मन में न आयी थी। उस कल्पना का कुछ अंश ठीक ही हुआ। १९३८ में रिहाई के बाद जीविका के लिये पहले 'कर्मयोगी' साप्ताहिक में पचहत्तर रुपये मासिक पर नौकरी की थी। यदि संचालक महोदय निबाहने देते तो शायद निबाहता ही रहता पर प्रकाशवती जी ने भी वैराग्य की उस कल्पना को निबाहने नहीं दिया।

अनशन के कुछ ही दिन बाद, जब अभी शरीर में बहुत निर्बलता थी, एक दिन मेरे लिये दफ्तर से बुलावा आया। मेजर भंडारी ने अपने कमरे में बुलाकर कहा कि मुझ से मिलने के लिये कोई व्यक्ति लाहौर से आये हैं। मिलने की आज्ञा इसी शर्त पर दी जा सकती है कि मैं अनशन के बारे में कोई बात न करुं। शर्त बहुत अपमान-जनक लगी परन्तु सोचा शायद माता जी किसी तरह अनशन का समाचार पाकर आयी हैं। छः सौ मील का यह सफर उन्होंने किस गरीबी और कठिनाई में किया होगा, मुझ से भेंट न हो सकने से उन्हें कितनी निराशा होगी! अनशन तो समाप्त होकर उसका परिणाम भी सामने आ चुका था। उस विषय में बात करने या न करने से क्या होता। अनशन के सम्बन्ध में बात न करना स्वीकार कर लिया।

मिलने आने वालों के भीतर आने पर देखा कि माता जी नहीं, प्रकाशवती थीं। बात हम लोग विशेष कुछ कर नहीं सके क्योंकि भंडारी साहब की समझदारी के कारण पुलिस के एक आदमी को बुलाकर हम लोगों के बीच में ऐसे बैठा दिया गया था कि

हमारी कही बातें उसके कानों पर से गुजर कर ही एक दूसरे तक जा सकती थीं। अनशन के बाद अभी मैं बहुत निर्बल था। यह न बता सकने के कारण कि मेरी शारीरिक दुर्दशा का कारण अनशन था, प्रकाशवती ने समझा कि जेल में मेरे साथ बहुत बुरा व्यवहार किया जा रहा था और जेल में मेरा स्वास्थ्य वैसा ही रहता था। मुझसे मिलने के बाद उन्होंने यू० पी० सरकार के तत्कालीन होम मेम्बर सर महाराजसिंह से जाकर शिकायत की और केन्द्रीय असेम्बली के सदस्यों तक खबर दी। समाचार-पत्रों में भी मेरे स्वास्थ्य के बारे में खूब चर्चा चल पड़ी। अनशन के बाद मुझे ज्वर भी रहने लग गया था।

जेल में प्रकाशवती से मुलाकात होने के बाद उनकी समस्या के बारे में और भी अधिक ध्यान आने लगा। उनकी कई समस्याएं थी। उनका परिवार रूढ़िवादी था। वे क्रान्तिकारी काम में सहयोग देने के लिये घर छोड़ कर आ गयी थीं। परिवार के लोग उन्हें अपना लेने के लिये कैसे तैयार होते? प्राचीन धारणाओं के अनुसार उनके काम से परिवार पर कलंक लग गया था। हमारा क्रान्तिकारी दल प्राय: बिखर गया था। राजनैतिक परिस्थितियां उस समय भी काफी तेजी से बदल चुकी थीं। वे क्या करेंगी? एक बड़ी समस्या मेरा जेल में होना भी था। मैं उम्र भर के लिये जेल में था; कम से कम अभी और बारह वर्ष के लिये तो था ही। प्रकाशवती की समस्या का एक समाधान यह हो सकता था कि वे सामाजिक ढंग से किसी भले आदमी से विवाह करके समाज में अपना स्थान बनाकर साधारण जीवन आरम्भ कर दें और जो अपना कर्तव्य समझें उसके लिये भी सामर्थ्य भर यत्न करें।

मेरे इस सुलझाव के मार्ग में उनका मुझे अपना पति समझना रुकावट थी। उस समय मैं उनके लिये केवल एक भावना और स्मृतिमात्र ही तो था। मुझे जान पड़ता था कि मेरी याद या मेरे प्रति अनुराग की भावना उनके जीवन के स्वाभाविक और साधारणत: उचित मार्ग में रुकावट बन रही है। मुझे यह बहुत बढ़ा अन्याय जान पड़ता था कि मेरे प्रति एक भावुकतामात्र के लिये उनके या किसी के भी जीवन का स्वाभाविक संतोष निछावर हो जाये। मुझे यह न्याय और नैतिक कर्तव्य जान पड़ा कि मैं अपनी ओर से उन्हें ऐसे बंधन से मुक्त कर दूं। फरारी के जीवन में हम दोनों ने एक दूसरे को पति-पत्नी के रूप में स्वीकार किया था परन्तु उस सम्बन्ध पर सामाजिक घोषणा और स्वीकृति की मोहर तो नहीं थी। हम दोनों का उसे माने रहना या उसे भुला देना ही तो एक-मात्र बन्धन था। मेरी स्मृतिमात्र ही उनके जीवन की बाधा क्यों बने?

उपरोक्त विचार मन में आते थे परन्तु पुलिस के अफसरों की मौजूदगी में मुलाकात

के समय या पुलिस के हाथों से गुजर कर जाने वाले पत्रों में इस सम्बन्ध में कैसे लिखा जा सकता था। इस विषय में कुछ न कहना अपने अधिकार को व्यर्थ में जमाये रखने का अन्याय जान पड़ता था। आखिर एक ऐसा पत्र लिखा—"जीवन को व्यवहारिक और वास्तविक दृष्टिकोण से ही देखना चाहिये। व्यक्ति का मूल्य उस से समाज या दूसरे व्यक्तियों को प्राप्त होने वाले संतोष और उपयोग से ही होता है। जिस व्यक्ति की उपस्थिति या स्मृति केवल अभाव या निरन्तर दुख का कारण बने, उस से मुक्ति पा लेना ही अपने प्रति न्याय है। जो दांत सदा पीड़ा ही दे, उसे निकलवा कर उसकी जगह दूसरा दांत लगवा लेना ही न्याय और कर्तव्य है, आदि आदि···।" अभी कम से कम बारह वर्ष की जेल सामने थी। बारह वर्ष बाद जेल से छूटकर जैसा जीवन सम्भव जान पड़ता था उसका संकेत पूर्व प्रसंग से दे चुका हूं।

शिवराम जी पांडे सत्याग्रह आंदोलन में शेष कांग्रेसियों की तरह छः ही मास के लिये जेल आये थे। कुछ सजा दूसरी जगह काट आये थे। जल्दी ही छूट कर चले गये। मन्मथ गुप्त और रमेश की बदली आगरा सेन्ट्रल जेल में हो गयी। बी क्लास के एक नैतिक कैदी, यू० पी० के किसी छोटे-मोटे जमींदार अकबर मुहम्मद खां को मेरे साथ रहने के लिये भेज दिया गया। मुहम्मद खां डकैती या कत्ल के अपराध में उम्र भर की सजा पाये था। उस पर उतनी कड़ी निगरानी भी नहीं थी। वह हाते में कुछ ऐसी हरकतें करता था कि हम क्रान्तिकारियों ने बी क्लास का जो दबदबा कायम किया हुआ था, उस पर आंच आती थी। समझाने पर वह मूंछों पर ताव देने लगता—'हम क्या तुम्हारे बम-पिस्तौल से डरते हैं!' क्रान्तिकारियों के लिये नैतिक कैदियों के साथ (खास तौर पर बी क्लास के नैतिक कैदियों के साथ) रहना सदा ही संकट का कारण होता था। वे लोग क्रान्तिकारी बन्दियों की झूठी-सच्ची चुगली खाकर या उनसे झगड़ा करके अपनी राजभक्ति प्रमाणित कर के कुछ दया और लिहाज पाते रहने की आशा में रहते थे। सी क्लास के गरीब कैदियों में भी कुछ लोग ऐसे जरूर थे परन्तु ऐसे भी थे जो राजनैतिक कैदियों को आदरणीय मान कर उनके जोखिम उठाने के लिये भी तैयार रहते।

परिस्थितियां कुछ ऐसी हो गयीं कि मन खिन्न रहने लगा। स्वास्थ्य कुछ खराब था, और भी खराब हो गया। प्रकाशवती ने बाहर इस विषय में हलचल मचा ही रखी थी। मुझे फतेहगढ़ जेल से सुल्तानपुर के सैनीटोरियम जेल भेज देने का हुक्म हो गया। सुल्तानपुर सैनीटोरियन जेल में केवल तपेदिक के मरीज ही भेजे जाते थे। अनुमान किया कि डाक्टर और सुपरिन्टेडेंट मुझे बताना उचित नहीं समझते परन्तु उन्होंने सरकार को सूचना दी होगी कि मुझे तपेदिक हो गया है, तभी तो मुझे वहां

भेजा जा रहा है। किसी दिन जेल से छूट जाने की कल्पना भी व्यर्थ ही है इसलिये प्रकाशवती को एक और पत्र लिखा। उस में व्यंजना से समझाने का यत्न किया कि तुम्हें मुझ से कोई आशा नहीं करनी चाहिये। यह भी कि मैं पिछले सम्बंधों और जिम्मेवारियों को भूल गया हूं। यदि जेल से कभी छूट भी गया तो अपने लिये जीवन का कोई नया ही रास्ता और नये ही सम्बन्ध चुन लूंगा। अभिप्राय यही था कि वे स्वयं को स्वतन्त्र अनुभव कर सकें। माता जी को यही लिखता रहा कि मैं जेल में खूब मजे में समय काट रहा हूं और जो नैतिक उपदेश उन्होंने बचपन में दिये थे, उन के अनुसार चलने का प्रयत्न करता हूं।

जेल की कानूनी सख्तियों के बावजूद कुछ दिन बाद जेल के कर्मचारियों का व्यवहार सहानुभूति का हो जाता था। सुल्तानपुर के लिये मेरा चालान किया जाने से आठ-दस दिन पहले ही मुझे उस की सूचना मिल गयी थी। जेल के एक कर्मचारी से अनुरोध किया कि वह कानपुर में 'प्रताप' के पते से बालकृष्ण जी शर्मा नवीन को सूचना दे दे कि मैं अमुक तारीख को कानपुर स्टेशन से होकर सुल्तानपुर जाऊंगा। सम्भव हो तो मुझ से स्टेशन पर मिल लें। फतेहगढ़ से मेरा चालान भी कुछ अजीब-सी परिस्थिति में हुआ। मुझे इतना बीमार समझा गया कि जेल में बिस्तर से फाटक तक भी चलना मना था। एक स्ट्रेचर पर उठा कर पहुंचाया गया। सफर में भी स्ट्रेचर साथ रहा कि गाड़ी बदलते समय पैदल न चलना पड़े और ऐसे ही सुल्तानपुर स्टेशन पर रेल से सवारी तक भी पैदल न चलूं परन्तु पांवों में भारी-भारी बेड़ियां भी जरूर डाल दी गयीं।

बालकृष्ण जी शर्मा नवीन से मेरा उस समय तक व्यक्तिगत परिचय नहीं था परन्तु मेरा सन्देश पाकर वे स्टेशन पर आये। पुलिस की गारद से घिरे बीमार कैदी को पहचान लेना कोई बड़ी बात नहीं थी। वे इतनी आत्मीयता और सहृदयता से मिले मानों सगे से अधिक अपने हों। उन के शब्द भी अभी तक याद हैं:—"My whole heart goes to you." इस आत्मीयता का आधार उन का क्रांतिकारियों में विश्वास था जिस का श्रेय उन के भगतसिंह और आजाद से परिचय को ही दिया जा सकता था। उन्होंने पूछा भी—"मैं तुम्हारे लिये क्या कर सकता हूं?...किसी चीज की आवश्यकता हो तो कहो।" उन्हें प्रकाशवती का पता देकर अपनी बदली हो जाने की सूचना दे देने के लिये अनुरोध किया।

उन दिनों सुल्तानपुर सैनीटोरियम जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट (तपेदिक के विशेषज्ञ) डाक्टर शंकरलाल गुप्ता थे। डाक्टर गुप्ता अफसर कम और डाक्टर अधिक थे। जेलों के अधिकांश डाक्टरों का व्यवहार इस से ठीक उलटा होता है। डाक्टर गुप्ता ने खूब

अच्छी तरह ठोक-बजा कर और जांच-पड़ताल करके मेरे शरीर की परीक्षा की और विश्वास दिलाया—"आप को तपेदिक हरगिज नहीं है। पुराना ज्वर है। मन की चिंताएं छोड़िये। यहां जेल में ऐसा कोई काम न कीजिये कि मुझ पर कोई बात आये और जो चाहे कीजिये।" डाक्टर गुप्ता को साहित्य का भी खूब शौक था। उन्होंने अनेक पुस्तकें पढ़ने के लिये दीं। उन्हें फूलों और बागवानी में भी बहुत रुचि थी। उन के शौक के कारण सुल्तानपुर जेल में अनेक तरह के गुलाबों और दूसरे फूलों का सुव्यवस्थित जंगल सा बना हुआ था। जिधर देखिये फूल। उन का प्रयत्न यही रहता था कि कैदी सुल्तानपुर जेल को हस्पताल ही समझें। जल्दी ही मेरा स्वास्थ्य सुधरने लगा।

मेरे सुल्तानपुर तपेदिक जेल में भेज दिये जाने के समाचार से प्रकाशवती बहुत घबरायीं। जल्दी-जल्दी मिलने आने लगीं। मिलने आना उन के लिये आसान इसलिये भी हो गया था कि गिरफ्तारी के बाद उन्हें सरकार ने देहली और लाहौर में एक वर्ष तक न रहने का नोटिस दे दिया था। वे समय का सदुपयोग कर सकने के लिये बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में आकर पढ़ने लगी थीं। बनारस से सुल्तानपुर कुछ घंटे की ही रेल-यात्रा थी। प्रायः पांच-छः मास बाद, मेरे स्वस्थ हो जाने पर मुझे सुल्तानपुर से बरेली केन्द्रीय जेल में भेज दिया गया।

सन् १९३५ और १९३६ बरेली केन्द्रीय जेल में बीते। जेल जीवन की सब से बड़ी परेशानी एकरसता होती है परन्तु यहां कुछ घटनाएं हुईं। बरेली जेल में आते ही मेजर रोजेयर से वास्ता पड़ा। मेजर रोजेयर एंग्लोइंडियन था। उसे योरुपियन समझे जाने और अपने रोब का बहुत खयाल रहता था। दूसरे समझदार सुपरिन्टेन्डेन्ट का कायदा दूसरा था। वे प्रायः क्रांतिकारी बन्दियों के हाते में न जाते। न अधिक सामना होता न उन के रोब और हम लोगों के आत्मसम्मान की भावना में रगड़ होती। रोजेयर दिखाना चाहता था कि उस के बारक में आने पर हमें भी खड़े हो जाना पड़ता है। इस के इलावा जेल के श्रम के सम्बन्ध में बेमतलब नोक-झोंक—"काम क्यों नहीं किया? ये क्या है? वह क्या है?" जेल का कानून तो सदा ही अधिकारियों के पक्ष में रहता था। यों रोजेयर मन का बुरा नहीं था। प्रतीक्षा में रहता था कि हम लोग विनय दिखायें तो वह लिहाज करे; उस की प्रभुता और अधिकार का प्रदर्शन हो सके। रोजेयर के व्यवहार से मन में सदा ही एक कचोट सी अनुभव होती रहती थी, विशेष कर जेल के श्रम के बारे में। श्रम कठिन न होने पर भी श्रम न करना हमारी हैकड़ी तो थी ही।

एक दिन रोजेयर से भिड़ जाने का निश्चय कर लिया। पाक्षिक परेड का दिन था। रोजेयर अपने अमले के साथ बारक में पधारा। सब लोगों को सुना कर उस ने

उपदेश देना आरम्भ किया—"श्रम करने में मानहानि समझना गलती है। हम भी तो दिन भर श्रम करते हैं। जेल के नियमों का पूरा पालन होना चाहिये। एम० एन० राय भी इस जेल में रह गये हैं। वे हमेशा अपना श्रम पूरा करते थे…।"

बात करते-करते रोजेयर ने अपना जूता पहना पांव मेरे पलंग के पैताने तहा कर रखे हुये कम्बल पर रख दिया। इतना तो मैं भी समझता था कि योरुपियन आचार-व्यवहार के अनुसार ऐसा करना अशिष्टता नहीं समझी जाती परन्तु मुझे अवसर मिल गया। अपनी जगह से आगे बढ़ कर मैंने कम्बल को पलंग से उठा कर फेंक दिया और बहुत क्रोध दिखाया—"मैं इस कम्बल को लेकर सोता हूं, तुम उस पर जूता रख कर मेरा अपमान कर रहे हो ?"

जेल के पूरे अमले की आंखें विस्मय में फैल गयीं। रोजेयर का चेहरा भी कागज की तरह पीला। इस भयंकर अपमान से तड़प कर वह बोला—"अच्छा, अच्छा ! तुम्हें इस की उचित सजा मिलेगी !" वह पांव पटकता बारक से लौट गया। उस दिन रोजेयर के लिये जेल के निरीक्षण की परेड पूरी करना कठिन हो गया। यही सोचता रहा होगा कि सब के सामने हुये अपमान का क्या उपाय करे। मैं स्वयं भी सोच रहा था, यह आदमी चिड़ कर जाने क्या बदला ले ? पर अब तो कदम उठ ही चुका था।

घण्टे भर बाद रपट बढ़ी कि साहब फिर हमारी बारक में आ रहे हैं। सोचा, इस बार बदला लेने ही आ रहा है पर साहब भीतर आया तो मुस्करा रहा था। बोला—"तुम्हारे स्वास्थ्य की परीक्षा करना चाहता हूं।"

डाक्टर के साथ एक जमादार रक्तचाप की परीक्षा का यंत्र लिये था। मुझे लिटा दिया गया। खूब परीक्षा की गयी और रोजेयर साहब ने घोषणा कर दी कि मेरा रक्तचाप बहुत कम है इसलिये मेरा बौखला उठना कोई विस्मय की बात नहीं। मैं क्या खाता-पीता हूं ? मुझे भोजन ठीक से मिलता है या नहीं ? बहुत लम्बी तहकीकात हुई। रोजेयर ने विज्ञ डाक्टर की हैसियत से समझाया—"रक्तचाप नीचा होना कोई बहुत आशंका की बात नहीं है; वैसे जार्ज पंचम की मृत्यु इसी रोग से हुई थी।" इस घटना के बाद रोज की नोक-झोंक से छुट्टी मिल गयी।

बरेली जेल में चन्द्रसिंह गढ़वाली से परिचय हुआ। १६३० में पेशावर में जिस गढ़वाली पल्टन ने सरकारी हुक्म से जनता पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया था, चन्द्रसिंह उस पल्टन में हवलदार थे। गोली चलाने का हुक्म मिलने पर इन्होंने ही आगे बढ़कर आज्ञा का विरोध किया था। इनके साथ ही इनके एक और साथी भी थे। दोनों सज्जन पांच-पांच, छ-छ साल जेल में काट चुके थे और अब साधारण कैदी जमादार बन गये थे ओर जेल के भीतर घूम-फिर सकते थे। प्रायः ही मिलने आते

रहते। उन दिनों वे देशसुधार के विचार से कैदियों में आर्यसमाज का प्रचार या कहिये मिथ्या-संस्कारों से मुक्त होने का प्रचार किया करते थे। कांग्रेसी स्वराज्य की मांग का समर्थन तो वे करते ही थे। मैंने उन्हें अपने ही दल का या समाजवादी दृष्टिकोण समझाना शुरू किया। बात उन्हें जंचने भी लगी। वे मुझे 'गुरु' सम्बोधन करने लगे और मैं उन्हें 'बड़े भाई'। बरेली जेल में उस समय चौरीचौरा केस के भी बन्दी थे। चौरीचौरा की घटना निर्विवाद रूप से राजनैतिक थी परन्तु उन लोगों को बी क्लास दिलाने का प्रयत्न कांग्रेस वालों ने कभी नहीं किया। वे लोग भी मुझ से मिलने या सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करते रहते थे।

मेजर रोजेयर की बदली हो गयी और उनकी जगह आ गये मेजर मल्होत्रा। मेजर मल्होत्रा भले आदमी थे, कुछ गौखा किस्म के। स्वभाव से तो दयालु और भावुक थे परन्तु रोब और अंग्रेज भक्ति दिखाने के लिये खामुखा सख्ती का दम्भ करते रहते थे पर वह बहुत निभता नहीं था। साधारणत: लोगों को दयालुता या सौजन्य का दम्भ करते देखा जाता है। यह भी एक अच्छा विद्रूप था कि जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट अपनी सज्जनता छिपा कर निर्दयता दिखाते थे। उन दिनों बरेली जेल में हैड जेलर एक एंग्लोइंडियन, विलियम्स था। बहुत कमीना और स्वभाव का चुगुलखोर। वह अंग्रेज गवर्नरों या वायसरायों को अपने सगे मामा से कम नहीं समझता था। प्राय: ही हम लोगों से पूछता, तुम्हारी आयु क्या है? जन्म की तिथि कौन है? और फिर बताता—"सम्राट एडवर्ड अष्टम की और मेरी जन्मतिथि एक ही है।" मानों उसी वंश का या नाते का भी हो। मेजर मल्होत्रा को यह आशंका भी रहती होगी कि विलियम्स उसके विरुद्ध गुप्त रिपोर्ट न कर दे कि वे क्रान्तिकारी राजनैतिक बन्दियों से सहानुभूति रखते हैं। इसलिये वे बेमतलब कुछ नोक-झोंक करते रहना आवश्यक समझते थे। अकेले आने का अवसर होता तो दूसरी तरह बात कर जाते।

जेल में विवाह

एक दिन बारक बन्द हो जाने के बाद मेजर मल्होत्रा अकस्मात निरीक्षण के तौर पर हमारी बारक की ओर चले आये। जेलर विलियम्स साथ नहीं था। जेल के दो शरीर रक्षक जमादार ही साथ थे। अंग्रेजी में हाल-चाल पूछ कर पंजाबी में बोले—"यह तो बताओ मिस प्रकाशवती कपूर कौन है? तुम जानते हो?"

"कहिये, क्या बात है?" मैंने उल्टे प्रश्न किया।

मेजर बोले—"अभी किसी से जिक्र करने की जरूरत नहीं है। मिस प्रकाशवती कपूर ने डिप्टी कमिश्नर की मार्फत दरखास्त दी है कि वह तुम से जेल में ही विवाह

करना चाहती है…।" कहते-कहते वे भावुकता में आ गये, "मैं यह सोचता रहा कि तुम्हें तो अभी दस-ग्यारह साल जेल में रहना है— भगवान करे तुम छूट जाओ तो अच्छा ही है—पर इस लड़की का त्याग देखो। त्याग और धर्म की ऐसी भावना हिन्दू नारी के अतिरिक्त संसार में कहीं सम्भव नहीं है। मैं मानता हूं कि तुम भी असाधारण देशभक्त और वीर आदमी हो। तुम ने अपना जीवन देश के लिये बलिदान किया है। तुम्हारी गिरफ्तारी के समय मैं बड़े ध्यान से पत्रों में सब समाचार पढ़ता रहता था। मैं नेहरू परिवार के लोगों, विजयलक्ष्मी और श्यामकुमारी को भी जानता हूं पर मैं सोचता हूं, इस लड़की को तुम से शादी करने से मिलेगा क्या ? उसका तो यह असाधारण त्याग आदर्श है। हिन्दू धर्म और हिन्दुस्तान आज भी जो मर नहीं गया तो ऐसी ही देवियों के धर्म और आचारबल से। मुझे तो यही संतोष है कि मुझे ऐसी देवी के दर्शन करने का अवसर मिलेगा।" इस बात का मैं क्या उत्तर देता।

अगले दिन डिप्टी कमिश्नर के यहां से आया सरकारी पत्र मुझे दिखाया गया— "लाहौर निवासी मिस प्रकाशवती कपूर, बरेली केन्द्रीय जेल में बन्द आतंकवादी कैदी यशपाल से विवाह करना चाहती है। कैदी यशपाल विवाह करना चाहता है या नहीं ?" मैंने स्वीकृति लिख दी और विवाह के लिये अगस्त की सात तारीख निश्चय हो गयी।

कुछ दिन पहले रमेश गुप्त बदली होकर बरेली जेल में आ गया था। उसे बड़ा उत्साह अनुभव हो रहा था कि भैया की शादी हो रही है। जेल में जो भी सुनता हैरान होता कि कैदी की शादी हो रही है। ऐसा अभी तक देश की किसी भी जेल में सुना भी नहीं गया था। कुछ लोगों का अनुमान था, शादी हो रही है तो कुछ दिन घर हो आने की छुट्टी भी मिल सकेगी।

विवाह के लिये निश्चित तारीख के दिन सुबह आठ बजे के लगभग दफ्तर से बुलावा आया। कारण तो पहले से ही मालूम था। जेल से मिले सफेद दुसूती के कोट-पैंट पहले से धुलाकर और स्त्री कराकर रखे हुये थे। उन्हें पहन कर चल दिया। शादी के लिये डिप्टी कमिश्नर की अदालत में जाना था। दफ्तर में पहुंचने पर आदेश मिला कि बेड़ियां पहन लूं।

"क्यों ?" मैंने विस्मय प्रकट किया।

"जेल के बाहर जा रहे हो। ऐसी अवस्था में बेड़ियां पहनायी जाती हैं।" उत्तर मिला।

"पर मैं तो शादी के लिये जा रहा हूं। बेड़ियां पहन कर शादी करायी जाती है ? बेड़ियां पहन कर शादी के लिये मैं नहीं जाऊंगा। शादी हो या न हो।"

मुझे अदालत में ले जाने के लिये सिपाही लेकर आया हुआ सब-इंस्पेक्टर मुझे

बेड़ियां बिना पहनाये बाहर ले जाने की जोखिम उठाने के लिये तैयार नहीं था।

जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट मेजर मल्होत्रा परेशानी में पड़ गये। उन्होंने पुलिस सुपरिन्टेन्डेंट को फोन किया कि पुलिस गार्ड कैदी को बेड़ियां पहनाये बिना अदालत ले जाने के लिये तैयार नहीं है और कैदी बेड़ियां पहन कर शादी कराने जाने के लिये तैयार नहीं है। पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट ने भी मुझे बिना बेड़ियां पहनाये जेल से बाहर ले जाने की जिम्मेवारी लेना स्वीकार नहीं किया।

मैंने शादी के लिये बेड़ियां पहनने से कतई इन्कार कर दिया। जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट ने डिप्टी कमिश्नर को टेलीफोन कर कठिन परिस्थिति की सूचना दी।

डिप्टी कमिश्नर मि० पैंडले संकट में पड़ गये। उनके पत्र के आधार पर प्रकाशवती मेरी माता और शादी के लिये दो और गवाहों को लेकर उनकी अदालत में पहुंची हुई थीं। डिप्टी कमिश्नर ने मेजर मल्होत्रा को उत्तर दिया--"पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट और कैदी दोनों की ही बात ठीक है। मैं दुल्हन को लेकर जेल में आ रहा हूं। वहां ही विवाह होगा।"

अवसरवश उस दिन बरेली में एक और संकट था। किसी कारण तांगों, इक्कों की हड़ताल थी। शहर कांग्रेस के प्रधान संतसिंह ने मेरी माता, प्रकाशवती और उनके साथ आये हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस के मैनेजर देवीप्रसाद जी शर्मा और श्रीकृष्ण सूरी को डिप्टी कमिश्नर की अदालत में तो पहुंचा दिया था। अब उन्हें जेल तक पहुंचाने के लिये सवारी का प्रबन्ध उनके बस की बात न थी। मि० पैंडले ने इसका भी उपाय किया। माता जी और प्रकाशवती को तो वे अपनी कार में ले आये। शर्मा जी और सूरी को भी किसी भद्र पुरुष की गाड़ी मिल गयी। प्रकाशवती और माता जी के डिप्टी कमिश्नर की गाड़ी में, उसके साथ ही आने से एक गलतफहमी पैदा हो गयी। वह बात जरा ठहर कर।

मि० पैंडले ने आज्ञा दी कि विवाह के अवसर के लिये जेल के दफ्तर को अदालत समझ लिया जाये। सिविल मैरेज या अदालती विवाह की कार्यवाही शुरू हुई। वर और वधू को जो-जो प्रतिज्ञायें करनी पड़ती हैं, हम लोगों ने कीं। पुरोहित के रूप में डिप्टी कमिश्नर के प्रश्न के उत्तर में प्रकाशवती ने अपने आपको सनातनधर्मी हिन्दू बता दिया परन्तु मैंने अपना धर्म बताया—'रेशनलिज्म'। हिन्दी में इस शब्द का अनुवाद बुद्धिवाद ही हो सकता है।

मि० पैंडले बोले—"यह नया इज्म (वाद) तो कभी सुना नहीं। नास्तिक लिख दूं या बौद्ध लिख दूं?"

"नहीं, जो मैं कहता हूं वही लिखिये।" मैंने आग्रह किया।

साहब ने चिढ़ कर वही लिख दिया और उन्होंने अपनी अदालती फीस सवा रुपया मांग ली । देवीप्रसाद शर्मा और सूरी ने प्रकाशवती की ओर से गवाही में हस्ताक्षर किये । मेरी ओर से गवाही में रमेशचन्द्र गुप्त और मेजर मल्होत्रा ने हस्ताक्षर किये । सूरी पांच-छ सेर मिठाई भी ले आये थे । मिठाई भी बांटी गयी । जो काम जेल में कभी नहीं हुआ था, वह हो गया । विवाह की खुशी में मेजर मल्होत्रा ने मुझे माता जी, प्रकाशवती, शर्मा और सूरी के साथ एक घण्टे तक बातचीत करने का अवसर दे दिया । उसके बाद वे लोग जेल फाटक के बाहर और मैं भीतर की ओर चला गया ।

विवाह के दूसरे-तीसरे दिन ही दूसरे हाते में रहने वाले सी क्लास के राजनैतिक और चौरीचौरा के मामले के बन्दियों का एक पेंसिल से लिखा पूरे ताव का गुप्त पत्र मिला । इस पत्र में उन्होंने अपने एक क्रान्तिकारी नेता के नैतिक पतन पर शोक प्रकट करके मुझ से क्रान्तिकारियों का नाम कलंकित न करने की अपील की थी । पत्र का अभिप्राय था—आपने जेल से मुक्ति पाने के लिये अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर की लड़की से विवाह कर लिया है । बहुत से राजनैतिक कैदी तो सी क्लास में उम्र कैद काट रहे हैं । आप तो बी क्लास की सुविधाएं पा रहे हैं । क्या आप इतना भी नहीं सह सकते ? इत्यादि-इत्यादि ।

जेल के भिन्न-भिन्न भागों और हातों में घूमने वाले कैदी जमादारों से सुना कि जेल में अफवाह थी—डिप्टी कमिश्नर साहब अपनी लड़की को साड़ी पहना कर मोटर में लाये और बी क्लास वाले साहब से (अर्थात् मुझ से) ब्याह कर गये । अब साहब (यशपाल) जेल से छूट जायेंगे । साहब और सरकार में सुलह हो गयी है । इस भ्रान्ति या कल्पना का कारण टांगा हड़ताल के कारण प्रकाशवती का डिप्टी कमिश्नर की मोटर में आना ही था । पंजाबी लड़कियों का रंग यों भी काफी गोरा होता है तिस पर ब्याह की तैयारी में कुछ पाउडर भी पोता ही होगा । वे अंग्रेज की बेटी समझ ली गयीं ।

जेल में रोमांचकारी अफवाहें उड़ाने से कैदियों को संतोष मिलता है । जीवन में स्फूर्ति और वैचित्र्य अनुभव करने का यही तो एकमात्र साधन उन के हाथ में रहता है । पत्र लिखने वाले लोगों को जितनी भी सही बात बतायी जा सकती थी, बता कर उन का भ्रम और आशंका दूर करने की चेष्टा की । जेल में पहली बार विवाह होना असाधारण नयी बात थी इसलिये सभी अखबारों ने 'स्टेट्समैन' आदि ने भी इस समाचार को महत्व देकर मोटे अक्षरों में प्रकाशित किया ।

जेल में विवाह हो जाने के समाचार से—चाहे वह खुष्क दफ्तरी ढंग से ही सम्पन्न

हुआ हो—सरकार की दृष्टि में जेल के वातावरण की रुद्र गम्भीरता का आतंक टूट-सा गया। सचिवालय से जांच-पड़ताल के कागज दौड़ने लगे कि यही नयी बात क्यों और कैसे हो गयी ? मेजर मल्होत्रा ने एक रोज बताया कि उन से पूछ-ताछ होने पर उन्होंने निधड़क उत्तर दे दिया—"विवाह डिप्टी कमिश्नर की स्वीकृति और आज्ञा से हुआ है। जेल के जिस कमरे में विवाह सम्पन्न हुआ, वह कमरा उस समय डिप्टी कमिश्नर की आज्ञा से अदालत में परिणित कर दिया गया था और वह स्थान जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट के नियन्त्रण में नहीं डिप्टी कमिश्नर के नियन्त्रण में था। जेल सुपरिन्टेंडेंट वहां दर्शक और गवाह की स्थिति में मौजूद था। जेल मैनुअल में कैदियों के विवाह के सम्बन्ध में स्वीकृति अथवा निषेध का कोई उल्लेख नहीं है। जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट ने निर्णय डिप्टी कमिश्नर के हाथ में छोड़ दिया था कि इस विषय में जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट का कोई उत्तरदायित्व नहीं है।"

जेल में विवाह हो जाने की बात यहीं नहीं रह गयी। डिप्टी कमिश्नर पैंडले से जवाब मांगा गया कि जेल में कैदी के विवाह की स्वीकृति उन्होंने कैसे दे दी ? ब्रिटिश अफसर भारतीय अफसरों की तरह दब्बू नहीं होते थे। पैंडले का उत्तर था—जेल विधान अथवा परम्परा में कैदियों के विवाह या जेल में विवाह के सम्बन्ध में कहीं कोई निर्देश नहीं है। मिस प्रकाशवती ने विवाह के लिये दरखास्त दी। उस में कोई गैर कानूनी बात नहीं थी। उस की इच्छा पूर्ति में बाधा डालने का मेरे पास कोई कारण नहीं था इसलिये मैंने स्वीकृति देना ही उचित समझा। इतने पर भी विवाह की प्रतिक्रिया में आरम्भ हुई हलचल समाप्त नहीं हो गयी।

कुछ मास बाद, उत्तर प्रदेश की सरकार के तत्कालीन गृह-सदस्य (होम मेम्बर) सर महाराजसिंह बरेली जेल का निरीक्षण करने आये। मुझे भी उन के दर्शन का सौभाग्य हुआ। मेरा परिचय पाकर बोले—"तुम्हें जेल में रख कर कोई न कोई मुसीबत होती ही रहनी चाहिये। जेल में शादी करके तुम्हें क्या फायदा हो गया ? हमारे लिये एक समस्या जरूर खड़ी कर दी। उन्हें उत्तर दिया—"आप स्वयं देख रहे हैं कि मुझे कोई फायदा नहीं हुआ। मैं तो आप की सरकार के पिंजरे में बन्द हूं। जो कुछ हुआ आप की सरकार और आप के अफसरों की अनुमति से हुआ।"

महाराजसिंह बोले—"हुआ यह कि हमें जेल मैनुअल में एक और धारा बढ़ानी पड़ गयी कि जेल में कैदियों का विवाह नहीं हो सकता।"

मैं मुस्करा दिया—"चलिये एक ऐसी बात हो गयी जो कभी नहीं हुई थी और हो भी नहीं सकेगी।"

जेल में मेरे विवाह से उस समय चाहे कोई लाभ न हुआ हो, यह घटना अंग्रेजी

प्रकाशवती (१९३५)
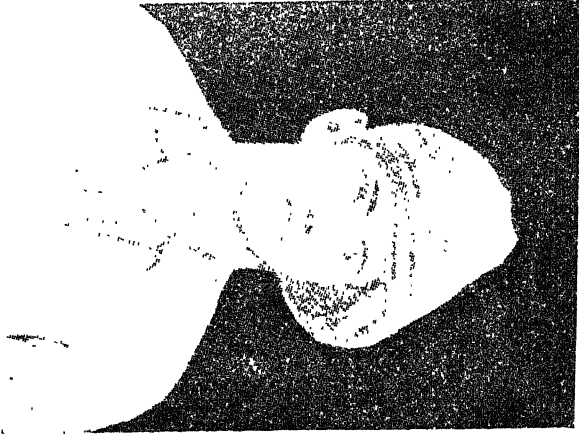
शहीद शालिग्राम शुक्ल
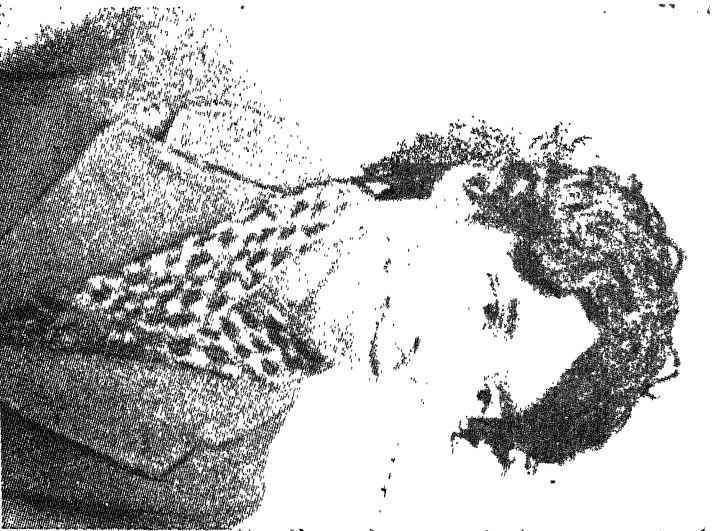
जेल में शहीद मणीन्द्रनाथ बैनर्जी

शासन की जाप्तेदारी का अच्छा उदाहरण बन गयी ।

नैनी जेल में समारोह

१६३३ और १६३४ में गांधी जी ने कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में अपने कुछ चुने हुये सत्याग्रही साथियों को लेकर सत्याग्रह के शस्त्र को खूब आजमाया । बम्बई में १६३४ अक्तूबर के कांग्रेस अधिवेशन में गांधी जी ने अपनी नीति और अपने कार्य-क्रम की असफलता का एक नया आध्यात्मिक कारण बता दिया । उन्होंने कहा कि सत्याग्रह का आध्यात्मिक संदेश जनता तक प्रचार के आधुनिक, अपवित्र मशीनी साधनों द्वारा पहुंचने से निर्बल हो जाता है । कांग्रेस के नेता चुनावों की वैधानिक लड़ाई में ही विश्वास रखते थे । चुनाव न लड़ कर ब्रिटिश सरकार से मोर्चा लेने पर आंदोलन का रूप अवैधानिक और गांधी जी की दृष्टि में हिंसात्मक हुये बिना नहीं रह सकता था। आन्दोलन को वैधानिक और अहिंसा की सीमाओं में सीमित रखने का उपाय, आन्दोलन को चुनाव के क्षेत्र में ले आना ही था । गांधी जी और पटेल आदि कांग्रेस के नेताओं में एक समझौता हुआ । गांधी जी ने कांग्रेस की सदस्यता छोड़ दी । नेताओं ने भविष्य में अनुकूल अवसर आने पर गांधी जी को अपना डिक्टेटर बनाकर आन्दोलन चलाने का निश्चय कर लिया । तब तक चुनावों की वैधानिक लड़ाई का ही कार्यक्रम रहा । १६३५ के नये कानून के अनुसार विधान सभाओं के और निर्वाचित मंत्रियों के अधि-कार भी काफी बढ़ा दिये गये थे परन्तु गवर्नरों और वायसराय को उनके काम में दखल देने का काफी अधिकार था । इस पर भी कांग्रेस ने चुनाव लड़े । जनमत कांग्रेस के साथ था । विधान सभाओं में कांग्रेसी सदस्यों की बहुत बड़ी संख्या पहुंच गयी ।

नये कानून और चुनाव के अनुसार मंत्रिमण्डल बनाने का अवसर आया । कांग्रेस की मांग थी कि गवर्नर और वायसराय इस बात का आश्वासन दें कि वे मंत्रिमण्डलों के कामों में कम से कम दखल देंगे । जब तक यह आश्वासन न मिलेगा कांग्रेसी मंत्रि-मण्डल न बनेंगे परन्तु विधान सभाओं में कांग्रेस की मांगों की अवहेलना नहीं की जा सकती थी । वे जिस समय जिस प्रश्न पर चाहते, सरकार के विरुद्ध अविश्वास या निन्दा का प्रस्ताव पास कर सकते थे । इस स्थिति का प्रभाव शासन और जेलों में व्यवस्था और व्यवहार पर भी पड़ा । क्रान्तिकारी कैदियों की पुरानी मांग थी कि ऐसे सब बन्दियों को किसी एक जेल में, एक साथ रखा जाये । १६३७ फरवरी या मार्च के दिन थे । एक दिन समाचार मिला कि मेरी और रमेशचन्द्र गुप्त की बदली नैनी केन्द्रीय जेल में हो रही है । वहां सभी क्रान्तिकारी बन्दियों को एक साथ रखा जायेगा ।

रमेश और मैं नैनी के स्टेशन से पुलकते हुये हृदय से नैनी जेल पहुंचे । क्रान्ति-

कारी दल के कई बड़े-बड़े नेताओं, शचीन्द्रनाथ सान्याल और जोगेशचन्द्र चैटर्जी आदि के नाम हम लोगों ने सुने थे। मुलाकात का अवसर कभी नहीं आया था। उन्हें कभी देख न पाने पर भी उनके प्रति हम लोगों में बहुत श्रद्धा थी। सशस्त्र क्रान्ति की प्रेरणा और उत्साह पाने में इन लोगों की कहानियों ने हम पर बहुत प्रभाव डाला था। सान्याल दादा की पुस्तक 'बन्दी जीवन' तो हम लोगों के लिये आरम्भिक पाठ्य पुस्तक सी रही थी।

एक खूब बड़े हाते में दो बड़ी बारकें थीं। जिस समय रमेश और मैं इस हाते में पहुंचे, सब सुनसान था। हमीं सबसे पहले आ पहुंचे थे। बाद में एक-एक दो-दो व्यक्ति, एक-एक दो-दो दिन के अन्तर से आने लगे और बारक भर गयी। शचीन्द्र सान्याल, जोगेश चैटर्जी, शचीन्द्र बख्शी, मन्मथनाथ गुप्त, मुकुन्दीलाल तो काकोरी के मामले के थे। इसके अतिरिक्त सुविमलकुमार राय, शम्भुनाथ, रमेश गुप्त, बलराज और शिवराजसिंह आदि और बाद के दूसरे मामलों के अभियुक्त राजेन्द्र निगम आये। काशीराम और मैं हि०स०प्र०स० के मामलों के बन्दी थे। इसके अतिरिक्त कम्युनिस्ट शिवसिंह और कानपुर की मजदूर सभा का एक कार्यकर्ता बैनर्जी भी आये। बारक में अच्छी-खासी रौनक हो गयी।

इस जमघट में अनेक अनुभवी लोग थे। वे जानते थे कि बहुत से राजनैतिक या क्रान्तिकारी बन्दियों के एक साथ रहने से जहां अपनी सामूहिक संगठित शक्ति द्वारा जेल अधिकारियों का मुकाबला करने का अवसर रहता है वहां जरा-जरा सी बात पर आपसी स्पर्धा के फूट पड़ने की भी काफी आशंका रहती है। अपने समय को जहां तक सम्भव हो, ठाली नहीं रहने देना चाहिये। संयुक्त अध्ययन की व्यवस्था की गयी और यह अनुशासन भी बना लिया गया कि हम में से कोई भी बन्दी जेल अधिकारियों से किसी भी किस्म का व्यक्तिगत सम्पर्क न बनाये या व्यक्तिगत रूप से कोई मांग आदि न करे। सब बातें पूरी बारक की ओर से संयुक्त रूप से हों। बारक से एक स्पोकसमैन या प्रवक्ता चुन लिया जाये। बारक के प्रवक्ता का काम सौंपा गया मुझे। किसी भी समाज के प्रवक्ता को थोड़ी-बहुत पंचायत भी करनी ही पड़ेगी। ऐसे सब महारथियों के समुदाय की पंचायत और प्रवक्तापन निबाहना विनोद मात्र तो हो नहीं सकता था। उसे उन्हीं के सहयोग से ही निबाहा जा सकता था।

मुझ से कहीं अधिक अनुभवी साथियों के बारक में रहते यह अहंकार कर लेने का कोई आधार नहीं था कि मैं सब से विज्ञ अथवा बुद्धिमान हूं, इसलिये मुझे प्रवक्ता मान लिया गया है। यह सब विशेष परिस्थितियों के ही कारण था। सान्याल दादा बंगाल के अनुशीलन क्रान्तिकारी दल के प्रतिनिधि थे और जोगेश दादा युगान्तर

क्रान्तिकारी दल के। इन दोनों दलों की प्रतिद्वन्द्विता प्रख्यात रही है। उसका प्रभाव इन दोनों नेताओं के व्यक्तिगत भावों और व्यवहार में भी वर्तमान था। इसके अतिरिक्त इन लोगों में दार्शनिक और राजनैतिक आदर्शों का भेद भी था।

सान्याल दादा आध्यात्मवादी आदर्शों में विश्वास रखते थे। उन के आध्यात्मवाद का गांधीवाद के स्थूल और भक्तिवादी आध्यात्म से कोई सम्बन्ध नहीं था। वे अरविन्द के अनुयायी थे। उसी विचारधारा के आधार पर वे भारत के लिये आध्यात्म-निर्देशित प्रजातन्त्र शासन की कल्पना करते थे। जोगेश दादा का आदर्श कुछ तो पहले ही से, कुछ जेल के स्वाध्याय और मनन से मार्क्सवादी हो चुका था। शेष लोगों में और कोई भी आध्यात्मवाद या आदर्शवाद में आस्था रखने वाला नहीं रहा था। हम लोगों के एक साथ रहने पर विचारों और सिद्धान्तों के विलोडन और छानबीन का खूब अवसर आता और नयी-नयी पुस्तकें पढ़ने की प्रवृत्ति भी होती। हम लोग साहित्यिक दृष्टिकोण से भी गोष्ठियां और विचार परिवर्तन करते रहते थे। साथियों के अनुरोध पर यहां मैंने फतेहगढ़ जेल में लिखी अपनी कुछ कहानियां सुनायीं। सान्याल दादा, जोगेश दादा, बख्शी और मन्मथ आदि ने उन की जो प्रशंसा की उस से मेरा उत्साह और आत्म-विश्वास खूब बढ़ा। फतेहगढ़ जेल में भी मैं और मन्मथ साहित्यिक चर्चा किया करते थे। मन्मथ तब भी बंगला में कविता, कहानी आदि लिखते रहते थे और मैं हिन्दी में। एक बार मन्मथ का ध्यान मैंने अनातोल फ्रांस की एक पुस्तक से एक बहुत ही सुन्दर पैरे की ओर आकर्षित किया। पुस्तक फ्रेंच में थी। मन्मथ ने शैली और विषय वस्तु की बहुत सराहना करके कहा—"इस से अच्छा लिखा ही नहीं जा सकता।"

मैंने सुझाव दिया—"पर इसी भाव को हिन्दी या बंगला में ऐसे ही लिखा जा सकना चाहिये।" मन्मथ ने चुनौती दे दी—"असम्भव। अनुवाद इतना अच्छा कभी हो ही नहीं सकेगा। अनुवाद तो अनुवाद।"

मैं चुपचाप उस अंश का अनुवाद करने लगा। कुछ समय बाद मन्मथ से अनुरोध किया—"मौलिक फ्रेंच से वह पैरा एक बार फिर पढ़ो। मेरा किया अनुवाद भी देखो। त्रुटि क्या है? यदि है तो फिर यत्न किया जाये।"

मन्मथ ने परीक्षक की सतर्कता से मौलिक और अनुवाद को कई बार पढ़ा और फिर बहुत स्पष्टता से कहा—"मैं मानता हूं, अनुवाद मौलिक से भी अधिक सरस हो गया है।" इस तरह की बातों से अभ्यास और आत्म-विश्वास बढ़ता रहता था।

चुनावों में कांग्रेस की भारी सफलता के बाद कांग्रेस के मन्त्री पद स्वीकार कर लेने की सम्भावना को ध्यान में रख कर निकट भविष्य में हम लोगों के जेल से छूट जाने की कल्पना अब दुराशामात्र नहीं कही जा सकती थी। उस समय हम सभी लोगों

का विचार था कि जेल से छूट कर हम लोग फिर अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये काम करेंगे इसलिये हम लोगों के इकट्ठे हो जाने पर लक्ष्य के स्पष्टीकरण का प्रश्न उठना आवश्यक था। काकोरी के साथियों की गिरफ्तारी के बाद फिर से दल का संगठन करते समय भगतसिंह और दल के तत्कालीन नेताओं ने दल के नाम में समाजवादी शब्द जोड़ दिया था। वह परिवर्तन निष्प्रयोजन तो था नहीं। नैनी सेन्ट्रल जेल में इकट्ठे हुये सब साथियों में से केवल सान्याल दादा को ही यह नया शब्द जोड़ा जाना बहुत उपयोगी नहीं जान पड़ता था। सान्याल दादा को समाजवाद की भावना से या समाजवाद के सामाजिक और आर्थिक पक्ष से विरोध नहीं था। उन्हें विरोध था केवल समाजवादी दर्शन के नितान्त भौतिक आधार से। वे भारत के आध्यात्मनिष्ठ समाजवाद का प्रतिपादन चाहते थे। शेष साथियों की समझ में ऐसा समाजवाद इतिहास द्वारा अप्रमाणित केवल कल्पना-मात्र था। अन्य साथी देश के लिये समाजवादी व्यवस्था की कल्पना मार्क्सवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर ही कर सकते थे। आरम्भ में हमने समाजवाद के उद्देश्य को अपना लक्ष्य स्वीकार किया था। बाद में हम शनैः शनैः उस के आर्थिक और दार्शनिक पक्ष के समीप आते गये। देश के क्रान्तिकारी लोगों की, विशेष कर हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातन्त्र संघ की यही सामूहिक प्रवृत्ति थी। इस का बहुत ठोस प्रमाण था अंदमान द्वीप की जेल में अधिकांश क्रान्तिकारियों का सामूहिक रूप से कम्युनिस्ट पार्टी में भरती हो जाना।

नैनी में हम लोगों ने ऐसा कार्यक्रम बना लिया था कि सुबह नाश्ता करने के बाद सामूहिक (क्लास लगा कर) अध्ययन के लिये बैठ जाते। जोगेश दादा इस अध्ययन में बहुत उत्साह से सहयोग देते थे। दोपहर में खाना खाने की छुट्टी होती और तीन बजे फिर मई की तपती दोपहरी में चाय पीकर अध्ययन के लिये बैठ जाते। संध्या समय वालीबाल या बैडमिंटन खेल कर व्यायाम करते थे। रात में अपनी-अपनी स्वतंत्र पढ़ाई करते रहते थे। अर्थात् दिन में अर्थशास्त्र, दर्शन, राजनीति और रात में साहित्य।

साथी शिवसिंह की मौजूदगी से इस अध्ययन का क्रम निश्चित करने में विशेष सहायता मिलती थी। यद्यपि शिवसिंह का क्रान्तिकारी दल से सम्बन्ध नहीं था परन्तु उस का जीवन अद्भुत अनुभवों की शृङ्खला थी। जवानी की पहली उमंग में सिख धर्म का प्रचार करने के लिये वह बर्मा पहुंचा था। बर्मा से सिंगापुर, मलाया होता हुआ आस्ट्रेलिया चला गया। आस्ट्रेलिया से अमेरिका। अमेरिका में उस की प्रवृत्ति कम्युनिज्म की ओर हो गयी। अमेरिका से स्पेन, फ्रांस और जर्मनी होता हुआ रूस पहुंच गया। रूस में उस ने दो वर्ष तक नियमित रूप से अध्ययन किया। कुछ दिन मजदूर की तरह निर्वाह भी किया और फिर टर्की, ईरान आदि का चक्कर लगाता

हुआ भारत लौट आया। हम लोग बिना गुरु या निर्देशक के एकलव्य की भांति या मार्क्स के चित्र को ही गुरु मान कर अध्ययन करते रहते तो हमारे लिये अध्ययन उतना सुलभ न होता।

हमारी इन स्वाध्याय की बैठकों में सभी लोग अनिवार्य रूप से भाग लेते हों ऐसा नियम नहीं था। सान्याल दादा तो इस अध्ययन को ही गलत राह पर समझते थे या यह उन के लिये अनावश्यक था। कुछ साथी अंग्रेजी का या स्कूल कालिज की शिक्षा का आधार न होने से भाग नहीं ले पाते थे। एक-आध को इस में रुचि ही नहीं थी। उदाहरणत: बनारस के सुविमलकुमार राय। राय ने बारक के भोजन का प्रबन्ध अपने जिम्मे ले लिया था। थोड़ा-सा कच्चा मांस महीन-महीन काट कर, हाथ में लेकर अपनी खाट पर लेट जाते। मांस के टुकड़े इधर-उधर फेंक-फेंक कर तीन चार बिल्लियों को लड़ा-लड़ा कर विनोद करते रहते। राय पढ़ते थे केवल 'स्टेट्समैन'। बारक में पत्र आते ही यदि सब से पहले उन्हें न मिलता तो वे कातर हो जाते। स्टेट्समैन में भी एक ही बात देखना आवश्यक समझते थे, रेलवे टाइमटेबल में कोई परिवर्तन हुआ है या नहीं। यह अभ्यास कई वर्ष से चल रहा था। उन का कहना था—क्या मालूम किसी संयोग से कब छूट जायं। ऐसी हालत में रेल का टाइम मालूम न होने से बनारस की पहली गाड़ी छूट जा सकती है।

राय स्पष्ट कहते थे कि राजनीति या क्रान्ति के प्रयत्न से उन का कोई सम्बंध नहीं था। उन के अनजाने में उन की बहिन क्रान्तिकारियों को सहयोग और सहायता दे रही थीं। बहिन ने एक दिन एक बम लाकर घर में रख लिया था। बम का विस्फोट हो गया। बहिन गिरफ्तार हो थाने में जायगी। पारिवारिक अपमान की आशंका राय बाबू के सामने आ गयी। उपाय सोचा, वे स्वयं फरार हो जायें तो पुलिस उन्हें ही ढूंढ़ती फिरेगी। बहिन पर सन्देह नहीं होगा। ऐसा ही किया परन्तु अगले ही दिन परास्त हो गये और जाकर पुलिस के हाथ आत्मसमर्पण कर दिया। उन्हें फरारी में सब से बड़ी कठिनाई यह पेश आयी थी कि पाखाने कहां जायें? बेचारे बंगाली भद्रलोक थे। अपने घर या शहर में रहने वाले सम्बन्धियों के घर के अतिरिक्त देहात या जंगल में कभी रहे नहीं थे। खेतों में या उजाड़ में जहां जाकर बैठते नीचे घास चुभने लगती। पहली बार तो एक पेड़ की डाल पर बैठ कर संकट से निवृत्ति पायी पर डर लगता था गिर जाने का। हार मान कर हवालात की सुरक्षा में जा बैठे परन्तु भद्रलोक परिवार की महिला की इज्जत पर आंच न आने दी। स्वयं सात वर्ष की जेल का दंड सह लिया। इसे भीरुता कहा जाय या साहस! हम लोग जितना मूल्य देश और मानवता के प्रति कर्त्तव्य की भावना से चुका रहे थे, सुविमल

बाबू उतना ही मूल्य भद्र परिवार की लड़की के बेपर्दा न होने देने के लिये चुका रहे थे। दूसरी ओर उन्हीं दिनों देश के बहुत बड़े नेता (पं० जवाहरलाल नेहरू) की बहन और पत्नी डंके की चोट जेल जा रही थीं। भिन्न-भिन्न लोगों के सम्मान की धारणाएं भी कितनी परस्पर-विरोधी होती हैं।

रिहाई के मार्ग में अड़चनें

कांग्रेस को १९३७ जुलाई मास में प्रान्तीय गवर्नरों और वायसराय से शासन कार्य में कम से कम हस्तक्षेप का आश्वासन मिल गया। ग्यारह प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने सरकार की बागडोर सम्भाल ली। कांग्रेस ने चुनाव में वोट मांगने के लिये जो घोषणापत्र निकाला था उस में बिना किसी भेद के सभी राजनैतिक बन्दियों की रिहाई की प्रतिज्ञा भी थी। कांग्रेसी सत्याग्रह आन्दोलन के सब कैदी तो रिहा हो चुके थे इसलिये हमें भी जेल से मुक्ति की आशा के प्रभात की आभा क्षितिज पर दिखायी देने लगी। ठीक इसी समय दो साथियों के सिर पर शहीद बनने की इच्छा सवार हो गयी। उन्होंने ऐलान किया कि वे सब साथियों की मुक्ति के लिये आमरण अनशन करना चाहते हैं। प्रायः सभी साथियों को यह काम उचित नहीं जंच रहा था।

अनशन के प्रस्ताव पर बारक के प्रवक्ता की स्थिति कठिन हो गयी। यह कह देना कि अनशन करने वाले दो साथियों से हमें कोई मतलब नहीं, उचित नहीं था और उन के साथ सहानुभूति प्रकट करना और भी अनुचित जान पड़ता था। एक और संकट, उस समय नैनी जेल में सुपरिन्टेन्डेन्ट भंडारी था। भंडारी हमारी किसी भी भूल से लाभ उठा कर नयी सरकार से शाबाशी पा लेने के लिये अवसर की खोज में था परन्तु सरकार या विधान सभा के अनेक सदस्यों से क्रान्तिकारियों के व्यक्तिगत परिचय होने के कारण स्थिति अधिक खराब नहीं हो सकी।

काकोरी के मामले के रामकृष्ण खत्री अपनी सजा पूरी करके कुछ दिन पूर्व रिहा हो चुके थे। वे इस अवसर पर शेष क्रान्तिकारी कैदियों की रिहाई के लिये मंत्रियों के चारों ओर घूमते रहते थे। खत्री जेल में आकर हमें भी आश्वासन दे जाते थे। वे नये कांग्रेसी राज के परिवर्तनों की बातें सुना जाते। सचिवालय और विधान सभा पर गांधी टोपी और खद्दर के कपड़ों का नया-नया प्रभुत्व कायम हुआ था। पहरे पर नियुक्त पुराने गोरे और एंग्लोइंडियन सार्जेन्ट मंत्रियों तथा नेताओं के चेहरे पहचान नहीं पाते थे। खत्री ने बताया कि उन के मंत्रियों से मिलने के लिये विधान सभा या सचिवालय में जाने पर गोरा सार्जेन्ट एड़ी से एड़ी ठोक कर उन्हें फट्ट से सलूट मारता था। यह सुन कर हमारे कई नवयुवक साथियों को रोमांच हो आता। अब और क्या

चाहिये था ?

लगभग अगस्त का महीना था। सुपरिन्टेन्डेन्ट से लेकर अदना वार्डर तक अपनी वर्दी के बटन मांज कर चुस्त-दुरुस्त हो गया। जेल में कंपकंपी सी छा गयी थी— मुख्यमंत्री आ रहे हैं। हम लोग ऐसे निश्चिन्त और प्रसन्न थे मानो अपने बाप ही मिलने आ रहे हों। जेल के वार्डरों और सचिवालय के अर्दलियों की रक्षा में मुख्य-मंत्री पंडित गोबिन्दवल्लभ पन्त, श्री वेंकटेशनारायण तिवारी के साथ आये। पहले वाली बात नहीं थी कि सुरक्षा या अदब के विचार से कैदी और आला अफसर के बीच दस कदम का फासला रहना ही चाहिये और बीच में वार्डर, अर्दली और जेल के अफसर मौजूद रहें। हम कैदियों से बुत की तरह निश्चल और सीधे खड़े रहने की आशा की जाती। पन्त जी शरीर रक्षकों की आड़ से आगे बढ़ कर हम लोगों की पीठों पर हाथ रख-रख कर मिले, हाल-चाल पूछा। बड़े साहब, छोटे साहब और जेल के पूरे अमले को हाते से बाहर हटा दिया गया। पन्त जी और तिवारी जी हम लोगों के बीच रह गये। जेल के इतिहास में यह नयी अनहोनी बात थी।

पन्त जी हम लोगों को आसपास बुलाकर बीच में बैठ गये और बात शुरू की। उन्होंने कुछ इस प्रकार बात कही—"कांग्रेस अपने चुनाव के प्रतिज्ञापत्र में ही सब राजनैतिक बन्दियों को रिहा कर देने की नीति की घोषणा कर चुकी है। आप लोग भी जेल में नहीं रहेंगे, यह तो निश्चय ही है लेकिन सत्याग्रही अहिंसात्मक बन्दियों और शस्त्र और हिंसा के प्रयोग के लिये अभियुक्त बन्दियों में अन्तर रखा जाता रहा है। हमें तो पूरा विश्वास है कि बदली हुई परिस्थितियों में आप लोग हिंसा में विश्वास नही रखते। आप लोगों की रिहाई के लिये कोई शर्त नहीं रखी जा रही है। आप से कुछ लिख कर देने के लिये भी नहीं कहा जा रहा है। आप हमारे अपने ही हैं। हम से कोई बात कहने में भी आपके स्वाभिमान का प्रश्न नहीं है। यदि आप हम से कह दें कि अब आपका विश्वास हिंसा में नहीं है तो गवर्नर से आपकी रिहाई की बात करते समय हम अधिकार और बल से कह सकते हैं कि आपका विश्वास हिंसा में नहीं है। आप लोगों को जेल में रखने का कोई कारण नहीं है।" आदि-आदि।

हम लोग पन्त जी की बात सुन कर अभी चुप ही थे कि सान्याल दादा ने स्वा-भाविक ढंग से बैठे-बैठे ही उत्तर दे दिया—"हिंसा तो हमारा ध्येय कभी भी नहीं था। आपके सामने हमारे यह कह देने से कि मौजूदा परिस्थितियों में हिंसा में हमारा विश्वास नहीं है, यदि आपके हाथ मजबूत होते हैं तो हमें क्या आपत्ति हो सकती है ?" पन्त जी ने सान्याल दादा की बात पर संतोष प्रकट किया। हमारे साथियों के

चेहरों पर संतोष ही दिखायी दे रहा था परन्तु मुझे यह सब अच्छा नहीं लग रहा था।

मैंने खड़े होकर दो शब्द कहने की आज्ञा मांगी और निवेदन किया—"…आपने राजनैतिक बन्दियों की रिहाई के सम्बन्ध में कांग्रेसी सरकार की नीति के विषय में जो बात कही है उस पर हमें पूरा विश्वास है। आपके सामने कोई भी बात स्पष्ट रूप से कह देने में भी हमें कोई संकोच नहीं है परन्तु किसी भी बात का अभिप्राय स्थिति और समय के अनुसार हो जाता है। आप हम पर कोई शर्त नहीं लगा रहे हैं परन्तु जब हम अपनी रिहाई के सवाल पर कोई बात कहते हैं तो उस बात और रिहाई में कार्य-कारण सम्बन्ध हो ही जायेगा। यदि हम आज कहें कि बदली हुई परिस्थितियों में हमारा विश्वास हिंसा में नहीं रहा तो इसका अर्थ हो जाता है कि पहले हमारा विश्वास हिंसा में था। वास्तव में हिंसा तो हमारा ध्येय कभी भी नहीं था। हम यह भी कहना नहीं चाहते कि हमें रिहा कर दिया जाये। हम आपसे कोई मांग करके आपको परेशानी में नहीं डालना चाहते। यदि आपकी नीति ऐसी है और यह जनता की मांग है तो हमें रिहा कर दीजिये वर्ना आपसे देश का जो भला होगा हमें उसी से संतोष हो जायेगा। आज अपनी रिहाई के प्रश्न पर हम जो कुछ कहेंगे उसका सम्बन्ध प्रार्थना या शर्त के रूप में रिहाई से हो ही जायेगा। हम लोगों ने अब तक जैसे आत्मसम्मान निबाहा है, हम आशा करते हैं आप भी चाहेंगे कि वह निभता रहे। इस अवसर पर हम से यह कहने की आशा करना कि 'हमें अब हिंसा में विश्वास नहीं रहा' असंगत है। हमें जो कुछ कहना था पहले कई बार कह चुके हैं। हमें सब प्रश्नों पर देश की जनता का निर्णय मंजूर है।" अन्त में मैंने यह भी कह दिया, "मैं यह बात बारक में रहने वाले साथियों द्वारा नियुक्त प्रवक्ता के रूप में सबकी ओर से कह रहा हूं परन्तु इस प्रश्न पर संयुक्त रूप से विचार करने का हमें कोई अवसर नहीं मिला इसलिये यदि साथी मुझ से सहमत न हों तो अपना विचार प्रकट कर सकते हैं।"

मेरे बैठ जाने पर सन्नाटा ही रहा। केवल जोगेश दादा ने खड़े होकर दो शब्द कहे—"साथी यशपाल ने जो कुछ कहा है मैं उसका समर्थन करता हूं।" दूसरे साथियों का भी भाव उनके चेहरों से स्पष्ट था। सान्याल दादा ने भी समर्थन किया, "हां ठीक है।"

पन्त जी ने सिर हिलाकर आश्वासन दिया—"बात तो ठीक है। यह कोई शर्त नहीं है। हमें जो करना है, हम करेंगे ही।"

इसके बाद वेंकटेशनारायण जी हममें से एक-एक को लेकर कुछ देर टहलते रहे। मुझ से भी बात की कि यह तो केवल टेक्नीकल यानि औपचारिक बात है। मेरा आग्रह था कि लक्ष्य के बारे में मतभेद तो कुछ है नहीं। प्रश्न तो यही है कि रूप क्या

सुरेन्द्र पांडे (सन् १९३१)
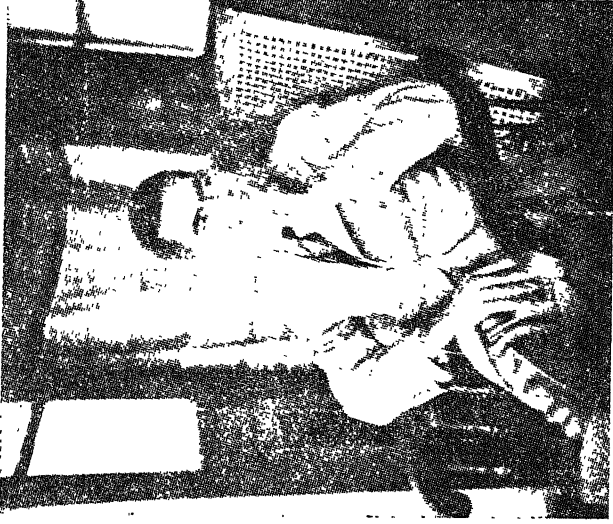
यशपाल जेल से रिहाई के समय

हो, सामने क्या आये। सामने तो ढंग या वस्तु का औपचारिक रूप ही आता है।

उपरोक्त घटना के बाद तीन सप्ताह या एक मास बीता होगा, रामकृष्ण खत्री हम लोगों से मिलने आये। उन्होंने बताया कि हम लोगों की जेल से मुक्ति की आज्ञा हो गयी है। नैनी सेन्ट्रल जेल में आज्ञा के पहुंचने में दो-तीन दिन लग सकते हैं, ठीक तारीख बताना कठिन है। उनका अनुरोध था कि जेल से छोड़ दिये जाने पर हम लोग मन चाहे जहां-तहां या अपने-अपने घर न भाग जायें। सब लोग इलाहाबाद में कांग्रेस के दफ्तर स्वराज्य भवन में इकट्ठे हों ताकि क्रान्तिकारी बन्दियों की मुक्ति पर उनका उचित आदर किया जा सके, उनका जुलूस निकाला जा सके। यह प्रस्ताव प्राय: सभी को अच्छा लगा परन्तु मैंने इस बन्धन से छूट चाही। निवेदन किया— "भाई ये जुलूस-वलूस अपनी प्रकृति और स्वभाव के अनुकूल नहीं है।"

रामकृष्ण खत्री ने डांट दिया—"नहीं-नहीं, यह व्यक्तिगत मामला नहीं है। क्रान्तिकारियों का सामूहिक प्रश्न है। हम लोगों के विरुद्ध समय-समय पर गलत प्रचार किया गया है। जब सान्याल दादा, जोगेश दादा और दूसरे साथी जनता के सामने अपने विचार प्रकट करेंगे तो लोगों को पता लगेगा कि हम लोग क्या हैं!"

मैं खत्री से सहमत नहीं हो सका। मैंने आग्रह किया—"देखो भाई, हम छूट रहे हैं परिस्थितियों के कारण। मुझे तो ऐसा नहीं जान पड़ता कि हमने संग्राम में विजय प्राप्त कर ली हो इसलिये विजेता की भांति अपना जुलूस निकलवाने में संकोच होता है। यह कांग्रेस की विजय है। हम कांग्रेसी नीति के कारण छोड़े जा रहे हैं। हमारे लक्ष्य तो पूरे हुये नहीं हैं। खयाल है, हमें तो अपने लक्ष्यों के लिये प्रयत्न जारी रखना ही पड़ेगा।"

जोगेश दादा ने भी मेरी बात का समर्थन किया और जुलूस-वलूस में शामिल होने के लिये अनिच्छा प्रकट कर दी। खत्री ने यह निश्चय किया—छूटने पर सब लोग स्वराज्य भवन में एकत्र तो जरूर हों फिर उचित-अनुचित देख लिया जायगा।

एक बार फिर हमारे हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ के लक्ष्यों के पूरा हो जाने या न हो जाने का प्रसंग आ गया है। यह प्रश्न भी असंगत नहीं है कि हमारे लक्ष्य पूरे नहीं हो गये तो हि०स०प्र०स० समाप्त क्यों हो गया और समाप्त नहीं हो गया तो उसका हुआ क्या? संस्था और संगठन के रूप में वह कायम क्यों नहीं रहा?

हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ के लक्ष्य सूत्र रूप में तो समाजवादी शब्द से प्रकट हो जाते हैं। इस संस्था ने अपने घोषणापत्र 'बम का दर्शन' में अपना लक्ष्य यों स्पष्ट किया था—'…क्रान्ति से हमारा अभिप्राय केवल जनता और विदेशी सरकार में संघर्ष ही नहीं है। हमारी क्रान्ति का लक्ष्य एक नवीन न्यायपूर्ण व्यवस्था है। इस

क्रान्ति का उद्देश्य पूंजीवाद को समाप्त करके श्रेणीहीन समाज की स्थापना करना और विदेशी और देशी शोषण से जनता को मुक्त करके आत्मनिर्णय द्वारा जीवन का अवसर देना है। इसका उपाय शोषकों के हाथ से शासन-शक्ति लेकर मजदूर श्रेणी के शासन की स्थापना ही है।' जहां तक विदेशी शासन से मुक्ति का प्रश्न था, लक्ष्य पूरा हो गया परन्तु हमारा श्रेणीहीन समाज का लक्ष्य तो पूरा नहीं हुआ। हमारे लक्ष्य युक्तिसंगत थे या नहीं, इस विषय में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि १९५५ की मद्रास कांग्रेस में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कांग्रेस के वही लक्ष्य बताये हैं जिनकी हि०स०प्र०स० ने १९३० या उससे पूर्व घोषणा की थी। यह लक्ष्य अभी तक पूरे न होने पर हि०स०प्र०स० संस्था के रूप में विलीन क्यों हो गया ?

मेरे विचार में इस प्रश्न का उत्तर हि०स०प्र०स० के संक्षिप्त से इतिहास में ही समाहित है। क्रान्ति भावनाओं के विकास की प्रक्रिया का परिणाम होती है। हिन्दुस्तान प्रजातंत्र संघ ने अपने विकास के परिणाम में हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ का रूप ले लिया था परन्तु विकास का क्रम बन्द तो हो नहीं जाना चाहिये था। जेल में बन्द साथियों को जब अध्ययन और विचार का अवसर मिला और उन्होंने अनुभव किया कि उन के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अधिक व्यापक और उन की अपेक्षा अधिक विकसित और वैज्ञानिक ढंग से चलने वाले संगठन का विकास कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में हो चुका है; अन्दमान में उन्होंने अपने आप को सामूहिक रूप से कम्युनिस्ट पार्टी में खपा दिया था। मेरे विचार में इन साथियों द्वारा अपनी संस्था और संगठन के अस्तित्व का मोह न करके लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अधिक व्यापक संगठन में अपने आप को खपा देना उन की निर्बलता और पराजय नहीं थी बल्कि अपने वैयक्तिक और सामूहिक अहंकार को लक्ष्य के लिये निछावर कर देना था।

इस प्रसंग में मेरी रिहाई के बाद की एक घटना का जिक्र अप्रासंगिक नहीं होगा। मुझे काफी बीमारी की हालत के बाद १९३८ मार्च में जेल से छोड़ा गया था। छूटते ही अड़तालीस घंटे के भीतर भुवाली सैनीटोरियम पहुंच जाने की भी आज्ञा थी। वहां से अगस्त में लौट कर आया। रिहाई के बाद हम लोगों के अधिकांश साथी निर्वाह की चिन्ता में और राजनैतिक परिस्थितियों के प्रभाव से अपने आप को जहां-तहां खपा बैठे थे परन्तु जोगेश दादा तब भी अपना जीवन जनता की मुक्ति के संघर्ष में अपने ढंग से लगाने की बात पर अड़े हुये थे। जेल के परिचय से उन्हें मुझ पर काफी विश्वास था कि मैं भी इसी मार्ग पर डट सकूंगा। जेल में वे मुझे अपना 'फ्रेंड, फिलासफर एंड गाइड' कहते थे। सितम्बर में वे गणेशगंज, लखनऊ में मुझ से मिलने आये और उन्होंने कहा—"कुछ आरम्भ करने से पूर्व तुम से बात कर लेना चाहता था।" प्रश्न सामने

रखा, "अब हम लोगों का अर्थात हि०स०प्र०स० का क्या कदम होना चाहिये ?"

मैंने हि०स०प्र०स० के लक्ष्यों की चर्चा करके पूछा—"कम्युनिस्ट पार्टी के लक्ष्यों और हमारे लक्ष्यों में क्या अन्तर है ?"

जोगेश दादा को भेद कोई नजर नहीं आया। उन्होंने प्रश्न किया—"तो क्या हम अपने अस्तित्व को बिलकुल खो दें; उसे मटियामेट कर दें ?"

मेरा उत्तर था कि संस्था या संगठन के रूप में केवल अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये ही एक प्रतिद्वन्द्वी संस्था का संगठन मैं उचित नहीं समझता। उस क्षण के बाद से जोगेश दादा का मुझ पर भरोसा समाप्त हो गया। जोगेश दादा ने रेवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी का संगठन आरम्भ कर दिया। रेवोल्यूशनरी पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी के लक्ष्यों में अंतर कोई नहीं था। झंडा भी वे हंसिये-हथौड़े का ही रखते हैं पर उन का संगठनात्मक अस्तित्व पृथक है। वे कहते हैं कि कम्युनिस्ट पार्टी की नीति विदेशी प्रभाव से निश्चित होती है और उन की पार्टी स्वतंत्र भारतीय कम्युनिज्म की पोषक है। विचारों की समता के नाते भारतीय कम्युनिस्टों का कम्युनिस्ट देशों से सहानुभूति रखना और उन के अनुभव से लाभ उठाने की इच्छा रखना उचित हो सकता है। किसी कम्युनिस्ट को स्पष्ट कहते नहीं सुना कि वे भारत का भाग्य किसी अन्य कम्युनिस्ट देश को सौंप देने के लिये तैयार हैं।

मेरे अधिकांश पाठकों और वैसे भी बहुत से लोगों का अनुमान रहा है कि मैं भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का मेम्बर हूं। यह जान कर कि मैं उस पार्टी का मेम्बर नहीं हूं, कुछ लोगों को विस्मय भी होता है। १६४६ फरवरी में कम्युनिस्टों की अंधाधुंध गिरफ्तारियों के समय पुलिस ने मुझे भी गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया था। प्रकाशवती ने उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मंत्री पंत जी से गिला किया—"यशपाल तो कम्युनिस्ट पार्टी का या किसी ट्रेड यूनियन का मेम्बर नहीं है। उसे क्यों गिरफ्तार किया गया है ?" पंत जी का पहला उत्तर तो था कि उन्हें मेरी गिरफ्तारी के बारे में मालूम ही नहीं था परन्तु अपनी पुलिस की पीठ पर हाथ रखे रहने के लिये पंत जी ने क्रोध भी प्रकट किया—"यशपाल मेम्बर नहीं है तो क्या हुआ ? वह लिख-लिख कर दूसरों को तो कम्युनिस्ट बनाता है।"

पंत जी द्वारा लगाये इस इलजाम के विरुद्ध कोई सफाई देना मैं आवश्यक नहीं समझता। पंत जी यह भी कहते हैं कि कांग्रेसी राज में विचारों की और विचारों के प्रचार की स्वतंत्रता है।

प्राय: लोग पूछते हैं, क्या मैं किसी भी पार्टी का मेम्बर नहीं हूं। क्या मैंने राजनीति से सम्पर्क छोड़ दिया है ?

राजनीति से सम्पर्क छोड़ देने का मतलब अपने देश और समाज की अवस्था और भविष्य से कोई सम्पर्क न रखना है। ऐसा वैरागी मैं नहीं हूं। जेल से छूटने के बाद से मेरे विद्यार्थी जीवन की, जेल में दुबारा पोसी भावना फिर जाग उठी थी। निश्चय कर लिया था—मुझे जो कुछ भी करना है, साहित्य के साधन से ही करूंगा। विद्यार्थी जीवन के समय विदेशी शासन की उत्तेजक परिस्थितियों का प्रभाव कहिये या अपने तत्कालीन साथियों भगवतीचरण, भगतसिंह, सुखदेव आदि के बलिदान हो जाने के लिये आगे बढ़ जाने के निश्चय का मुझ पर प्रभाव मानिये कि वे मुझे खींच ही ले गये। मुझे संतोष है, उस समय उनकी संगति में किये निश्चय को निबाहने का पूरा यत्न किया। जेल से मुक्ति के पश्चात जीवन का दूसरा अध्याय आरम्भ हुआ। अब अपना काम साहित्य के माध्यम से कर रहा हूं।

जेल से रिहाई की बात कह रहा था। रामकृष्ण खत्री के हमें समझा कर जाने के तीन-चार दिन बाद मुझे मामूली सा ज्वर और इनफ्लुएंजा हो गया। ज्वर के तीसरे ही दिन से खांसी में खून आने लगा। ऐसी अवस्था में साथियों की रिहाई का हुक्म आ गया। काकोरी के तो सभी बन्दियों की रिहाई हो गयी। मैं और चार-पांच साथी रह गये। इनमें से शिवसिंह, बैनर्जी, बलराज, शिवराज आदि की सजाएं भी अधिक नहीं थीं। आशा थी जल्दी ही हम लोगों की भी रिहाई हो जायगी। मेरी अवस्था गिरती ही जा रही थी। मेजर भण्डारी अपनी ताकत लगाये दे रहे थे पर खून का गिरना बढ़ता ही जा रहा था। यह भी निश्चय नहीं हो पा रहा था कि खून फेफड़ों से आ रहा है या गले की नली से। एक दिन इतना खून गिरा कि डाक्टर आपरेशन का विचार करने लगे। जेल और सरकार में मेरी अवस्था के सम्बन्ध मे बहुत जोर से लिखा-पढ़ी चल रही थी। बाद में मालूम हुआ कि उस समय का अंग्रेज गवर्नर हालेट और सबको रिहा कर देने के लिये तैयार था परन्तु मुझे नहीं।

हालेट को इस बात पर भी गुस्सा था कि हमारे जो साथी नैनी से छूटे थे उनका बहुत बड़ा जुलूस निकाला गया था और उन लोगों ने व्याख्यानों में घोषणा की थी कि ब्रिटिश छत्रछाया में और असली शक्ति ब्रिटिश हाथ में रहते जो कांग्रेसी सरकारें कायम की गयी हैं, इनसे उन्हें संतोष नहीं है। वे देश की पूर्ण आजादी के लिये लड़ते रहेंगे।*

मुख्य मंत्री पन्त जी और उत्तर प्रदेश के तत्कालीन जेल मंत्री रफी अहमद

---

*जिम्मेवार कांग्रेसी नेता पंडित नेहरू आदि भी १९३७ के कांग्रेसी शासन को स्वराज्य नहीं कहते थे।

किदवई साहब जब मेरे स्वास्थ्य की चिन्ताजनक स्थिति के आधार पर मेरी रिहाई की मांग करते तो गवर्नर को सन्देह होता, मेरी बीमारी जेल से मुक्ति के लिये बहानेबाजी है। गवर्नर ने इलाहाबाद के सिविल सर्जन लाई, सरकारी तपेदिक विशेषज्ञ डाक्टर टण्डन और एक फौजी कर्नल डाक्टर बासू को मुझे देखने के लिये जेल में भेजा। इन डाक्टरों की राय आपस में नहीं मिली।

कुछ दिन बाद मेरे मुंह से खून गिरना बन्द हो गया। मेरी अवस्था सुधरने लगी। मैं हस्पताल में अभी बिस्तर पर ही था कि शेष साथी भी छूट गये। काकोरी के बन्दियों को मुक्त हुये पांच मास बीत चुके थे। मैं अकेला रह गया। एक दिन हुक्म आया कि मुझे नैनी सेन्ट्रल जेल से लखनऊ जिला जेल में पहुंचा दिया जाये। जेल जीवन में पहली बार बिना बेड़ी के तबादले की यात्रा की। अनुमान था, शायद लखनऊ मुक्त कर देने के लिये ही ले जाया जा रहा हूं। लखनऊ जेल में पहुंचने पर रफी अहमद किदवाई साहब मुझ से मिलने आये। उन्होंने साफ-साफ बात की, मेरी रिहाई के प्रश्न पर गवर्नर और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल में जबरदस्त तनातनी चल रही थी। गवर्नर ने आखिरी अड़चन यह डाल दी थी कि यशपाल पंजाबी है। जेल से छूटने पर वह पंजाब जायेगा। पंजाब की सरकार शायद यह पसन्द न करे। उसे मुक्त करने से पूर्व पंजाब की सरकार की राय ले लेनी चाहिये। उस समय पंजाब में कांग्रेसी सरकार नहीं, ब्रिटिश भक्त सर सिकन्दर की यूनियनिस्ट सरकार थी। वे भला मेरे जैसे आदमी की रिहाई के लिये क्या स्वीकृति देते इसीलिये गवर्नर ने यह तर्क दिया था। गवर्नर के इस सुझाव से मेरी रिहाई न हो सकती थी। लाहौर षड़यन्त्र के अभियुक्त शिव वर्मा, जयदेव कपूर आदि को सर सिकन्दर हयात की सरकार ने मेरी रिहाई के भी कई वर्ष बाद ही मुक्त किया था।

किदवई साहब चाहते थे कि मैं यह शर्त स्वीकार कर लूं कि मैं रिहाई के बाद पंजाब नहीं जाऊंगा और वे गवर्नर का मुंह बन्द कर सकें।

किदवई साहब को उत्तर दिया—"रिहाई के लिये शर्त के नाम पर इतनी सी बात कह देना भी मुझे अच्छा नहीं लगता।"

स्वर्गीय रफी साहब बहुत गम्भीर, सहानुभूति पूर्ण स्वभाव के व्यक्ति थे परन्तु मेरे इस इनकार पर वे कुछ झुंझला गये—"तुम्हें लिख कर कुछ नहीं देना। इस समय इतना कह देने में भी आपत्ति है तो हमारे सामने दो ही रास्ते रह जाते हैं। कांग्रेस मंत्री-मण्डल सब राजनैतिक बन्दियों को रिहा करने की प्रतिज्ञा पूरी न कर सकने के कारण सरकार से त्याग-पत्र दे दे या पंजाब के राजनैतिक कैदी को पंजाब भेज दे।"

मेरे सामने विकट समस्या थी। कुछ सोच कर रफी साहब से निवेदन किया—

"शर्त से बचने का एक उपाय बता सकता हूं। मैं आप के नाम एक पत्र लिख दूं जिस में यह शर्त न होने पर भी गवर्नर के एतराज की काट हो जाये।"

रफी साहब ने जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट कर्नल जाफरी को आदेश दिया कि मैं जो भी पत्र लिख कर दूं, वह तुरन्त सिपाही के हाथ उन्हें भिजवा दिया जाये।

अगले दिन मैंने जेल-मन्त्री के नाम इस आशय का पत्र लिखा:—"मेरे साथ के सभी बन्दियों की रिहाई हो गयी हैं। आशा है कि कुछ दिन में मेरी भी रिहाई हो जायगी। इस समय मेरा स्वास्थ्य चिन्ताजनक है। मेरी पत्नी का विचार रिहाई के बाद मुझे इलाज के लिये तुरन्त स्विटजरलैंड ले जाने का है। उस यात्रा की तैयारी में कुछ समय लगेगा। मेरा घर बहुत दूर, पंजाब में कांगड़ा के पहाड़ों में है। ऐसे स्वास्थ्य में इतनी दूर सफर करना उचित नहीं है। कांगड़ा प्रदेश के देहात में रहते समय इलाज की ठीक व्यवस्था भी नहीं हो सकेगी इसलिये मेरा अनुरोध है कि आप मेरी रिहाई के बाद मेरे स्विटजरलैंड जा सकने से पहले मेरे ठहरने और इलाज का प्रबन्ध भुवाली के सैनीटोरियम में करवा दें···" पत्र लिख कर मैं उत्तर की प्रतीक्षा में था।

२ मार्च, १९३८ का दिन। सूर्य अस्त हो गया था। संध्या जेल बन्द हो चुकी थी। तभी देखा कि हाते में दो जमादार दौड़े आ रहे हैं। बारक और हाते में मैं अकेला ही था। जमादारों के पीछे किदवई साहब और सुपरिन्टेन्डेन्ट आ रहे थे। बारक का ताला खोला गया। किदवई साहब अपना गरारानुमा पायजामा पहने धीमे-धीमे आकर मेरे समीप खड़े हो गये। उन की मौन मुद्रा से समझा शायद मामला बिगड़ गया।

मैंने उन्हें सलाम कर बैठने के लिये कहा।

रफी साहब —"चलिये।"

"कहां?" मैंने पूछा।

"घर। कुछ साथ लेना है तो ले लीजिये, अपनी किताबें वगैरा।"

जमादारों ने मेरी किताबें उठा लीं। जेल का बिस्तर वहां ही छोड़ दिया।

जेल के फाटक से बाहर आये तो झुटपुटा सा अंधेरा हो चुका था। किदवई साहब ने अपनी गाड़ी में बैठा लिया। गाड़ी चलते ही वे बोले—"अब तो छूट गये जेल से··· कैसा लग रहा है छूट कर?"

मैंने उत्तर दिया—"अनुमान तो था कि बहुत विचित्र लगेगा परन्तु अकस्मात नहीं छूटा हूं। पूरी आशा और प्रतीक्षा थी इसलिये जान पड़ रहा है कि स्वाभाविक बात ही हुई है।"